श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप

गो. श्याम

श्रीवाल्लभग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक
केदारनाथ मिश्र
दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

आनन्द प्रकाशन
वाराणसी-१ (भारत)

न वयं कवयस्तु केवलं न वयं केवलतन्त्रपारगाः ।
अपि तु प्रतिवादिवारणप्रकटाटोपविपाटनक्षमाः ॥

यामुनाचार्याः

ŚRĪVĀLLABHA—GRANTHAMĀLĀ—FOURTH PUṢPA

THE PHILOSOPHY OF ŚRĪVALLABHĀCĀRYA AS IT IS

[A CRITICAL ESTIMATE OF 'THE PHILOSOPHY OF VALLABHĀCĀRYA' BY DR. (MRS.) M.I. MARFATIA]

GOSVĀMĪ SHYAMA

EDITOR : ŚRĪVALLABHA-VIJÑĀNA (BOMBAY)

ĀNANDA PRAKĀŚANA

VĀRĀṆASĪ–1 (BHĀRATA)

PUBLISHED BY
ĀNANDA PRAKĀŚANA
B 2/178 A, Bhadaini
VĀRĀṆASĪ-1 (BHĀRATA)

© AUTHOR
FIRST EDITION 1974 A. D.
PRICE RUPEES SIX ONLY

COVER : BAL THAKUR

PRINTERS
MAHAVIRA PRESS
Bhelupur, VĀRĀṆASĪ-1
Phone : 65848

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीवाल्लभग्रन्थमाला-चतुर्थ पुष्प

श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप

(डॉ. श्रीमती मृदुला मारफ़तियाकी 'द फ़िलासफ़ी ऑफ़ वल्लभाचार्य' नामक पुस्तकको समालोचना)

लेखक

गो० श्याम

सम्पादक 'श्रीवल्लभ-विज्ञान' मासिक (बम्बई)

आनन्द प्रकाशन

वाराणसी-१ (पिन कोड २२१००१)

प्रकाशक
आनन्द प्रकाशन
बी २/१७८ ए, भदैनी
वाराणसी–१ (भारत)

सर्वाधिकार लेखकके अधीन
प्रथम संस्करण, सन् १९७४ ई०

मूल्य—छः रुपये

आवरण सज्जाकार : बाल ठाकुर

मुद्रक
महावीर प्रेस
भेलूपुर,
वाराणसी–१
फोन : ६५८४८

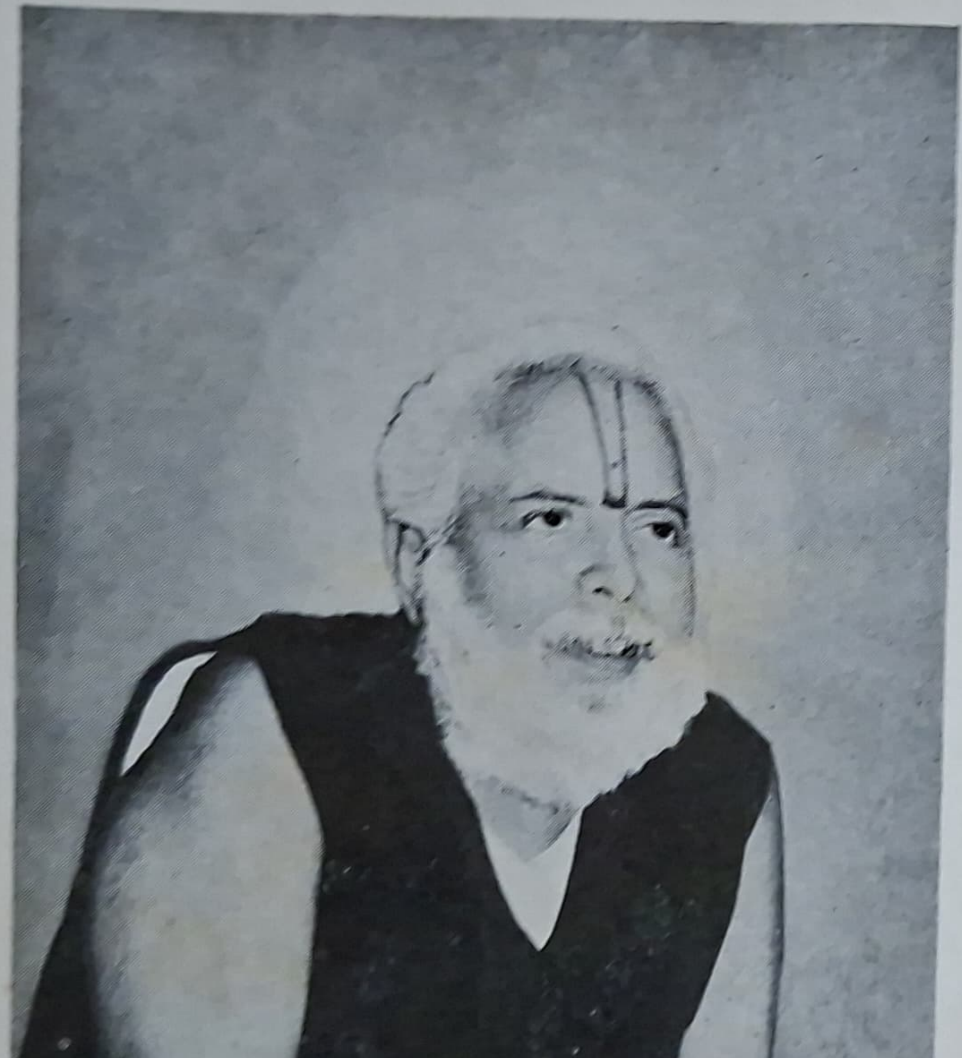

पूज्यपाद गोस्वामिश्रीदीक्षितजी महाराज (दादाजी)

को

सादर

समर्पित

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या
Preface	11
आभार-प्रकाश	13
सम्पादकीय	14
प्रथम अध्याय विषय प्रवेश	१
द्वितीय अध्याय चरममूल्याङ्कनकी समालोचना	७
तृतीय अध्याय प्रथम परिच्छेदकी समालोचना	३६
चतुर्थ अध्याय सामान्य परिचयालोचन (द्वितीय परिच्छेदकी समालोचना)	४६
पञ्चम अध्याय विशेष परिचयालोचन (तृतीय परिच्छेदकी समालोचना)	६०
षष्ठ अध्याय 'श्रीवल्लभाचार्यकी प्रमुख कृतियाँ' शीर्षक पञ्चम परिच्छेदकी समालोचना	७८
सप्तम अध्याय 'श्रीवल्लभाचार्यके अनुयायियोंकी प्रमुख कृतियाँ' शीर्षक षष्ठ परिच्छेदकी समालोचना	११०
प्रस्तुत कृतिमें प्रयुक्त एवं उल्लिखित प्रमुख ग्रन्थों तथा उनके लिए प्रयुक्त सङ्केतोंकी अकारादिक्रमसे सूची	१२१
मुद्रणमें हो गयी अशुद्धियोंका शुद्धिपत्र	१२५
श्रीवाल्लभग्रन्थमालामें प्रकाशित होने वाले ग्रन्थों की सूची	१२७
श्रीवाल्लभग्रन्थमाला योजनाकी सदस्यताके नियम	१२७
श्रीवाल्लभग्रन्थमाला योजनाके सदस्योंकी सूची	१२८

PREFACE

The present work is a long rejoinder to some of the observations made by Mrs. Mrudula Marfatia on some important aspects of the Śuddhādvaita doctrine in her book entitled "*The Philosophy of Vallabhācārya*" published at New Delhi in 1967.

Shri Shyāma Gosvāmī observes that the detailed rejoinder is both necessary and essential as the basic tenets of the philosophy of Śrī Vallabhācārya are not justly presented or critically interpreted. Each chapter of Mrs. Marfatia's book is critically discussed with relevant extracts from the original Sanskrit works and arguments in order to defend the Śuddhādvaita tenets. In the opinion of Shri Shyāma Gosvāmī Mrs. Marfatia has not thorougly examined the tenets of the Kevalādvaita and the Śuddhādvaita. Consequently she has not been able to present the tenets of either school in their proper import. Besides, it appears that she has a liking (if not passion) for the Kevalādavaita, and this has often tinged her judgments. Shri Shyāma Gosvāmī has followed the traditional *Vāda* style while propounding his view-point. His method of discussion reveals his traditional learning, critical acumen and a thorough understanding of the relevant texts.

Shri Shyāma Gosvāmī himself belongs to the learned family of the traditional Ācārya Śrī Dīkṣitajī Mahārāja. Besides, Mrs. Marfatia herself acknowledges her indebtedness to "His Holiness Śrī Dīkṣitjee Mahārāja the highest living authority on Vallabha-Vedānta for expounding and clarifying... certain traditional and abstruse implications of the postulates of the system" (p ix). In this context, Shri Shyāma Gosvāmī's enthusiasm to defend the Śuddhādvaita doctrine and to remove the possible misunderstanding about the exposition of Śrī Dīkṣitajī Mahārāja who is, at present the most respected authority on the Śuddhādvaita philosophy, is quite natural and proper. However some personal references in the rejoinder could have been moderate.

The present rejoinder, besides fulfilling its own aim, points out the oft-neglected point that a thorough study of the Indian philosophy should demand, *inter alia*, the knowledge of the traditional interpretation of the original source-books.

Post-Graduate & Research
Department in Sanskrit,
Bharatiya Vidya Bhavan,
Bombay 7.

S. A. UPADHYAYA

Kārtika, Śukla 15, V. S. 2030

आभार-प्रकाश

इस समालोचनाके प्रकाशनकी प्रबल इच्छा रहते हुवे भी अनेकविध कारणों-से इसका प्रकाशन हो नहीं पा रहा था। गत वर्ष जब श्री केदारनाथ मिश्रजीको यह समालोचना सुनायी तो उनके हार्दिक प्रोत्साहन तथा परिश्रमपूर्ण सक्रिय सहयोगके कारण यह ग्रन्थ आपके हाथोंमें आ रहा है। अतएव मिश्रजीके आभारप्रदर्श-नार्थ यदि लेखनीको चलाता हूँ तो पुनः परिश्रम तो मिश्रजीको ही करना पड़ेगा, क्योंकि इस सम्पूर्ण ग्रन्थकी प्रेस-काँपी, प्रूफ़-संशोधन तथा अन्य भी मुद्रण-प्रकाश-नोचित सारी व्यवस्था मिश्रजीने ही सम्हाली है। अपनेमें विश्वविद्यालयीय तथा अन्य भी अनेकविध व्यस्तताओंके बावजूद मिश्रजीने यह कार्यसम्पादन जिन महानु-भावोंके सहयोगसे पूर्ण किया उन सभीके प्रति यह लेखक हार्दिक आभार व्यक्त करता है। ग्रन्थके आवरक पत्रकी डिज़ाइनके लिये हम श्रीनन्दकिशोर मित्तल, श्री अशोक शाहाणे तथा श्री बालठाकुर के आभारी हैं।

गो० श्याम
१९।११।१९७३

श्रीव्रजरायजीका मन्दिर
नया शहर, किशनगढ़
अजमेर—३०५८०२

सम्पादकीय

वेदान्त के सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों की शृङ्खला की अन्तिम महत्त्वपूर्ण कड़ी श्रीवल्लभाचार्य भारतीय दर्शन के क्षेत्र में शुद्धाद्वैत वेदान्त के संस्थापक और धर्म के क्षेत्र में पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। विभिन्न कारणों से उनके तथा उनके अनुयायी विद्वानों द्वारा संस्कृत में लिखे गये दार्शनिक एवं धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन गिने-चुने लोगों तक ही सीमित रह गया है। विगत दशकों में उनके दर्शन से सम्बद्ध विषयों पर कुछ शोधग्रन्थ लिखे गये हैं किन्तु यह अत्यन्त खेद की बात है कि उनमें से अधिकांश—मूलग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन पर आधृत न होने के कारण—न केवल उनके सिद्धान्तों के हार्द को स्पष्ट कर सकने में असफल रहे हैं, अपितु उन्हें विकृत रूप में उपस्थापित करते हैं और अज्ञानमूलक तथा भ्रान्तज्ञान-मूलक अनेक भूलों से भरे पड़े हैं। इसी प्रकार का एक शोधप्रबन्ध **श्रीमती मृदुला मारफ़तिया** का लिखा हुआ है जिस पर उन्हें बम्बई विश्वविद्यालय से पी-एच्० डी० की उपाधि मिली है और जिसे मुंशीराम मनोहरलाल ने दिल्ली से अप्रैल १९६७ ई० में '**द फ़िलासफ़ी ऑफ़ वल्लभाचार्य**' (The Philosophy of Vallabhācārya) शीर्षक से प्रकाशित किया है। इसमें श्रीवल्लभाचार्य के सिद्धान्तों के उपस्थापन, स्पष्टीकरण और व्याख्यान में अनेक भूलें तो की ही गयी हैं उनकी समालोचना बहुत ही एकाङ्गी और दोषैकदिदृक्षा की दृष्टि से की गयी है। इस क्रम में लेखिका यहाँ तक भूल गयी हैं कि उनकी पूरी कृति का प्रतिपाद्य उनकी कृति के शीर्षक का ठीक विरोधी है। पूरी पुस्तक में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि लेखिका का यह निष्कर्ष प्रमाणपुष्ट है कि श्रीवल्लभाचार्य दार्शनिक नहीं हैं और उनका चिन्तन दर्शन (फ़िलासफ़ी) नहीं है, फिर भी पुस्तक का नाम '**द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ वल्लभाचार्य**' अर्थात् '**वल्लभाचार्य का दर्शन**' रखा गया है। यह नामकरण पुस्तक के शीर्षक को देखकर उसके विषय का अनुमान कर पुस्तक ख़रीद लेने वाले पाठकों के साथ अन्याय भले ही करता हो इस बात का सङ्केत अवश्य देता है कि पुस्तक के कलेवर में अनेक विसङ्गतियाँ हैं। यद्यपि कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम से अब यह पुस्तक हटा दी गयी है फिर भी अभी कई विश्वविद्यालयों में इसे पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त है। ऐसी दशा में जब वाल्लभ दर्शन के ज्ञान से शून्य व्यक्ति उसका प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के ग्रन्थ पढ़ते हैं तो प्रारम्भ में ही उनका परिचय इस दर्शन के मूल सिद्धान्तों के स्थान पर इसके व्यङ्ग्यचित्र (कार्टून) से होता है और स्वभावतः उनके मन में इस दर्शन के प्रति वितृष्णा का भाव उत्पन्न हो जाता है जो अन्ततः इस दर्शन के आगे अध्ययन-अध्यापन को निरुत्साहित करता है।

इन्हीं सब बातों को सोच-विचार कर बम्बई से प्रकाशित होने वाले **'श्रीवल्लभ-विज्ञान'** मासिक पत्र के यशस्वी सम्पादक श्रीमद्वल्लभवंशावतंस गोस्वामिश्री-दीक्षिततनय पण्डितप्रवर **गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजी (गो० श्याम)** ने श्रीमती मार-फ़तिया की कृति में श्रीमद्वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों एवं ग्रन्थों के उपस्थापन एवं मूल्याङ्कन में की गयी भूलों का पाण्डित्यपूर्ण किन्तु अत्यन्त स्पष्ट और सुबोध ढंग से निराकरण करते हुए श्रीवल्लभाचार्य के दर्शन के यथार्थ स्वरूप का प्रामाणिक एवं विशद विवेचन करने वाली प्रस्तुत कृति का प्रणयन किया है। उनके समान प्रबुद्ध धर्माचार्यों की इस प्रकार की उत्कृष्ट रचनाओं से जहाँ एक ओर जिज्ञासुओं को विशिष्ट दर्शनों एवं धर्मों के यथार्थ स्वरूप का परिचय प्राप्त होगा वहीं शोध एवं स्वतन्त्र चिन्तन के नाम पर निर्मूल, अनियन्त्रित एवं असम्बद्ध वाग्जाल फैलाने वालों को उत्तरदायी चिन्तन करने की ओर अभिमुख करने में सहायता मिलेगी।

गो० श्याम आनन्द प्रकाशन की **श्रीवाल्लभग्रन्थमाला योजना** के प्रमुख प्रेरकों में रहे हैं और इस ग्रन्थमाला में अपनी प्रस्तुत कृति का मुद्रण करने की अनुमति देकर उन्होंने आनन्द प्रकाशन पर महती कृपा की है। इस ग्रन्थ के मुद्रण-व्यय का प्रबन्ध **'श्रीवल्लभविद्यापीठ एवं श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण मिशन आश्रम ट्रस्ट'** के सदस्यों के सहयोग से हुआ है। श्रीवाल्लभग्रन्थमाला योजना का सदस्य बनकर जिन महानुभावों ने वाल्लभ दर्शन एवं धर्म से सम्बद्ध ग्रन्थों के प्रकाशन में अनुकरणीय सहयोग दिया है उनके हम आभारी हैं और उनके नामों की सूची श्रीवाल्लभ-ग्रन्थमाला योजना के नियमों के साथ नीचे पृष्ठ १२७-१२८ पर दे रहे हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कला-सङ्काय में दर्शन उच्चानुशीलन केन्द्र के निदेशक गुरुवर **प्रोफ़ेसर रमाकान्त त्रिपाठी** डी० लिट्० तथा गुरुवर **डॉ० रामशङ्कर मिश्र** ने मुझे अपेक्षित सुविधाएँ, प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देकर उपकृत किया है, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

मेरे प्रिय शिष्य **स्वामी ज्ञानप्रकाशदास** वेदान्ताचार्य, एम्० ए० तथा **श्रीज्ञानचन्द्र पाण्डेय** ने पाण्डुलिपि के एक अंश की मुद्रण-प्रति प्रस्तुत करने में सहायता की है एतदर्थ मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मेरी **धर्मपत्नी श्रीमती स्नेहलता मिश्रा** एम्० ए० ने गृहस्थी की सारी झंझटों को स्वयं झेलते हुए भी पाण्डुलिपि के एक अंश की मुद्रण-प्रति तैयार की है। उनके सक्रिय सहयोग से ही यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सका है और इसके लिए वे धन्यवाद की पात्र हैं।

पुस्तक के सुरुचिपूर्ण मुद्रण के कार्य को बड़े धैर्यपूर्वक पूरा करने के लिए महावीर प्रेस के सञ्चालक श्रीबाबूलाल जैन फागुल्ल के प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

'मानुष्यमस्खलितवृत्ति न लभ्यते, चेत्
लभ्येत कस्तदिह जीव-परात्मभेदः ?'
तस्माद् गुणप्रणयिनः सुधियः क्षमन्ताम्
सम्पादनेऽत्र यदि केचन सन्तु दोषाः ॥

केदारनाथ मिश्र
१५।८।७३

दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–५ (पिन कोड २२१००५)

श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

आजकल अद्वैतवाद की जैसी व्याख्या करने का फ़ैशन चल पड़ा है उसके सम्वन्धमें श्रीअरविन्दने एक बड़ी मजेदार बात कही थी कि जिन धारणाओंकी स्थापनाका उत्तरदायी श्रीशङ्कराचार्यको मानना स्वयं उनके लिए एक विस्मयावह बात हो जाये ऐसी यूरोपीय तर्कवाद और अज्ञेयवाद की धारणाओंके रंगमें रँगी मायावाद और अद्वैतवाद की बहुप्रचारित आधुनिक व्याख्यायें कई आधुनिक विचारकों को परेशान कर रहीं हैं[1]। और यही वात एकबार पुनः प्रकटरूपमें हमारे सामने आती है, जव हम डॉ० श्रीमती मृदुला मारफ़तिया द्वारा लिखित '**द फ़िलासफ़ी आफ़ वल्लभाचार्य**' पर दृष्टिपात करते हैं। यह ग्रन्थ बम्बई विश्वविद्यालयकेलिए पी-एच्०डी० के शोधप्रवन्धके रूपमें लिखा गया है। मगर शाङ्कर दर्शनकी ओर झुकाव और पूर्वाग्रहके कारण जो अक्षम्य त्रुटियाँ इस ग्रन्थ में हुई हैं उनके बावजूद भी इसका वाल्लभ दर्शनके एम्. ए. के प्रश्न-पत्रकेलिए सन्दर्भग्रन्थके रूपमें विश्वविद्यालयों द्वारा मान्य होना, इसकी समालोचनाकी आवश्यकताका पर्याप्त हेतु हो सकता है। इसके अलावा उस स्थितिमें विशेषतः, जवकि लेखिकाने साम्प्रदायिक सिद्धान्तके अध्ययनके दरम्यान सिद्धान्तके महत्त्वपूर्ण रहस्योंकी जानकारी **श्रीदीक्षितजी महाराजसे** प्राप्त की एवं जिसके फलस्वरूप साम्प्रदायिक दृष्टिकोणके तुलनात्मक अध्ययन और तार्किक विश्लेषण द्वारा '**चरम मूल्याङ्कन**' रूपी परिच्छेद ग्रन्थके अन्तमें दिया गया है। वस्तुतः जिन अज्ञानपूर्ण विधानोंसे उक्त ग्रन्थ भरा हुआ है, उनको लक्ष्यगत करने पर श्रीदीक्षितजी महाराजसे सिद्धान्तके महत्वपूर्ण रहस्योंकी जानकारी पर बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न लग जाता है। और, इसलिए कोई यह न समझे कि जो रहस्य (?) इस ग्रन्थमें प्रकट हुए हैं वे श्रीदीक्षितजी महाराजसे अध्ययनमें प्राप्त हुए हैं इसलिए भी यह समालोचना आवश्यक हो जाती है। ये सारे रहस्य अपूर्ण अध्ययनदश

---

1. "The Mayawada and the modern teachings about the Adwait ...are much in the air at the present moment and, penetrated with ideas from European rationalism and agnosticism for which Shankara would have been astonished to find himself made responsible, purplex many minds.

(The Yoga and Its Objects, p. 30).

एवं पूर्वाग्रहवश प्रकट हुए हैं—किसी भी प्रकारके श्रीदीक्षितजी महाराजके अध्यायन द्वारा नहीं।

यद्यपि ग्रन्थकी भूमिकामें कहा गया है कि **'वेदान्त'** पदको प्रायः सङ्कुचित अर्थमें —शाङ्कर दर्शनके रूपमें—लिया जाता है, परन्तु वेदान्तके अन्य सम्प्रदाय भी हैं और उनका साहित्य भी समृद्ध है, और उन्हींमेंसे वाल्लभ दर्शनके पूर्ण एवं आलोचनात्मक अध्ययनके अभावको दूर करनेकेलिए उक्त प्रबन्ध लिखा गया है; परन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि यहाँ वाल्लभ वेदान्तका पूर्ण अध्ययन तो हो नहीं पाया मगर अयुक्त आलोचनात्मक अध्ययन अथवा शाङ्कर दर्शनकी, श्रीशङ्कराचार्यको भी असह्य प्रतीत हो ऐसी, वकालत अवश्य हुई है। लेखिकाका सारा भार सर्वत्र यही सिद्ध करनेमें लगा हुआ है कि वाल्लभदर्शन दर्शन ही नहीं है क्योंकि श्रीवल्लभाचार्यका दृष्टिकोण तार्किक न होकर श्रद्धाजड है। जहाँ-जहाँ वाल्लभमतमें शाङ्करमतकी आलोचना हुई है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र शाङ्करमतकी वकालत और वाल्लभमतको कमज़ोर तथा युक्तिहीन सिद्ध करना यह लेखिकाका पवित्र कर्त्तव्य प्रतीत होता है जिसका निर्वाह उन्होंने पर्याप्त असावधानी से किन्तु अदम्य उत्साहपूर्वक किया है। यदि लेखिकाने **'द फ़िलासफ़ी आफ़ वल्लभाचार्य'** लिखनेके वजाय शाङ्कर दर्शनका भलीभाँति अध्ययन करके **"हाऊ फ़ार वल्लभाचार्य सक्सीड्स इन क्रिटिसिज़्म ऑफ़ शङ्कराचार्य"** लिखा होता तो अधिक उपयुक्त एवं मनोऽनुरूप होता।

ग्रन्थके प्राप्त होते ही सर्वप्रथम उत्सुकतावश ग्रन्थके अन्तिम परिच्छेद (Final Evaluation) पर दृष्टि गयी। और उसे देखते ही इतनी विसङ्गतियाँ मालूम हुई कि वहुत कुछ समालोचना तो मैंने उसी दिन लिख ली थी, वादमें अन्य परिच्छेदों को पढ़ने पर तो समग्र ग्रन्थ ही अस्तव्यस्त प्रतीत हुआ, अतः उपेक्षावृत्ति जग गयी और आलोचनाका भी विचार छोड़ दिया; परन्तु वादमें मालूम हुआ कि यह एम्.ए. के अध्ययनार्थ स्वीकृत हुआ है तो थोड़े से इधर-उधरके अन्तरके साथ समग्र ग्रन्थकी आलोचना लिख दी और वह अन्तिम परिच्छेदके वाद ही लिखी गयी थी अतः स्वाभाविक रूपमें मैंने उसे यहाँ उसी क्रममें रहने दिया है जिस क्रममें वह लिखी गयी थी।

हाँ, इस वीच एक आवश्यक तथ्योद्घाटन कर दूँ ताकि उक्त शोध-प्रवन्धके एवं मेरी इस समालोचनाके मुख्य स्वर विद्वान् आलोचकोंके हृदयमें सर्वथा सुस्थिर हो जायें; यद्यपि आरम्भमें ही विस्तार हो जाता है फिर भी यह अनिवार्य है क्योंकि समग्र शोध-प्रवन्धकी आधारशिला अथवा भ्रान्तिमूल यहीं निहित है। लेखिकाने शाङ्कर तथा वाल्लभ दर्शन के आधारभूत या मौलिक अन्तरको दोनों आचार्योंके निम्नलिखित वचनों में देखने का प्रयत्न किया है।

(१) '..........**तस्मात् प्रमाणमेवानुसर्तव्यं, न युक्तिः।''''युक्तिगम्या तु अब्रह्मविद्या।** (अणुभाष्य १।२।३२)।

(२) '**श्रुतिरपि 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इति श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधती तर्कमप्यत्रादर्तव्यं दर्शयति।**' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।१।४)।

हम शोधप्रबन्धके तैंतालीसवें और छियालीसवें पृष्ठोंपरसे सङ्कलित सारांश देकर विचार करेंगे कि क्या यहाँ इन दो दर्शनों का कोई प्रामाणिक मौलिक अन्तर है।

लेखिकाका आग्रह है कि वाल्लभमत केवल शब्दको ही प्रमाण मानकर तथा तर्कको ठुकराकर दर्शन कहलाने योग्य नहीं है। श्रीवल्लभाचार्यका दर्शन मत्स्यपुराणके "**अचिन्त्या खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्**" (मत्स्यपु० ११२।६) इस वाक्यका सहारा लेकर केवल श्रद्धाकी नींव पर खड़ा होना चाहता है जब कि शाङ्कर दर्शन तर्क तथा शब्द के यथायोग्य महत्त्वपर आधारित होनेके कारण सर्वथा बुद्धिग्राह्य दर्शन है। इसके प्रमाणरूप लेखिकाने उक्त शाङ्करभाष्यके विधानका हवाला छियालीसवें पृष्ठपर दिया है। लेखिका दोनोंकी तुलना करते हुए कहती हैं:—

> "Thus, scriptural testimony is said to be the only means to the full and complete realisation of the highest principle—an idea which is completely based on faith (ऑफ़ वल्लभाचार्य)[1]. Ś. (शङ्कर)[1] says in this connection that the knowledge of the Highest Reality is the end in view, terminating in intuition. The task of reason is to render the contents of the scriptural texts acceptable to all. Even the Bṛ. Up. statement, *viz.* 'The self has to be seen, heard', etc., implies that the Self that has to be seen, heard, etc., should also be pondered over (मन्तव्यः) and meditated upon (निदिध्यासितव्यः), so as to create a flash of Ultimate Realisation. Thus, reason has its own footing and jurisdiction." (The Phil. of V. p. 46).

इसी तरह प्रायः अन्यत्र भी अनेक स्थलोंपर शाङ्कर दर्शनकी तर्कनिष्ठा पर लेखिकाने उसका स्तुतिगान किया है। खैर, रुचिवैचित्र्यवश किसी एक पक्षका स्तुतिगान उतना अस्वाभाविक नहीं जितना कि इस स्तुतिगानके उत्साहमें स्वयं उस पक्षके सिद्धान्तको समझनेका भी कष्ट न करना! इस स्थितिका ज्वलन्त उदाहरण श्री शङ्कराचार्यके उदाहृत वचनके लेखिकाद्वारा किये गये अनर्थसे प्रकट होता है। **यह वाक्य श्रीशङ्कराचार्यने अपने मतको समझाते हुए नहीं किन्तु अपने मतमें शङ्काके रूपमें लिखा है जिसका**

1. कोष्ठकके अन्तर्गत ये अंश हमने मूलको स्पष्ट करने की दृष्टिसे अपनी ओरसे जोड़ दिये हैं।

निराकरण बादके सूत्रके भाष्यमें उन्होंने स्वयं किया है। मगर दुःखके साथ कहना पड़ता है कि लेखिका इसे श्रीशङ्कराचार्यके सिद्धान्तवाक्यके रूपमें उद्धृत करती हैं और फिर खुश होकर अपनी मान्यताको दृढ़ करती हैं कि—

> "S.'s (शङ्कराचार्य's) system impresses one as the most remarkable for the very strict rigors of logic to which he has submitted each one of his postulates, in the sense that he is prepared to face the direst logical consequences thereof." (The Phil. of V. pp. 10-11)

इस स्तुतिगानकी नीरसताको दिखलानेकेलिए यहाँ मूल शाङ्करभाष्यमें इस वाक्यका सन्दर्भ देख लेना अधिक निश्चयप्रद होगा।

"ब्रह्मास्य जगतो निमित्तकारणं प्रकृतिश्चेत्यस्य पक्षस्याक्षेपः स्मृतिनिमित्तः परिहृतः। तर्कनिमित्त इदानीमाक्षेपः परिह्रियते। **कुतः पुनरस्मिन्नवधारित आगमार्थे तर्कनिमित्तस्याक्षेपस्यावकाशः?** ननु धर्म इव ब्रह्मण्यप्यनपेक्ष आगमो भवितुमर्हति। भवेदयमवष्टम्भो यदि प्रमाणान्तरानवगाह्य आगममात्रप्रमेयोऽयमर्थः स्यादनुष्ठेयरूप इव धर्मः, परिनिष्पन्नरूपं तु ब्रह्मावगम्यते। **परिनिष्पन्ने च वस्तुनि प्रमाणान्तराणामस्त्यवकाशो यथा पृथिव्यादिषु।** यथा च श्रुतीनां परस्परविरोधे सत्येकवशेनेतरा नीयन्ते, **एवं प्रमाणान्तरविरोधेऽपि तद्वशेनैव श्रुतिर्नीयेत।** दृष्टसाम्येन चादृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य संनिकृष्यते। विप्रकृष्यते तु श्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिधानात्। अनुभवावसानं च ब्रह्मविज्ञानमविद्याया निवर्तकं मोक्षसाधनं च दृष्टफलतयेष्यते। **श्रुतिरपि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः'** इति **श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधती तर्कमप्यत्रादर्तव्यं दर्शयति। अतस्तर्कनिमित्तः पुनराक्षेपः।**" (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।१।४)।

यह सुस्पष्टतया पूर्वपक्षवाक्य है तथा पूर्वपक्षी यहाँ अपने पूर्वपक्षका औचित्य तथा अवसर सिद्ध करना चाहता है। श्रीशङ्कराचार्य इसके बादके सूत्रके भाष्य (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।१।६) में इनमेंकी प्रत्येक युक्तियोंका खण्डन करते हैं। उसे भी अविकल दे दें तो सारी स्थिति अत्यन्त स्पष्ट हो जाएगी।

"यत्तूक्तं परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुरिति, **तदपि मनोरथमात्रम्।** रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः; लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम्। **आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत्।** तथा च श्रुतिः 'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' (कठोप० १।२।९) इति। 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्' (ऋक्सं० १०।१२९।६), 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव' (ऋक्सं० १०।१२९।७) इति चैते ऋचौ सिद्धानामपीश्वराणां दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयतः। स्मृतिरपि भवति, **'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेद्'** (मत्स्यपु० ११३।६) इति।........।

यदपि श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधच्छब्द एव तर्कमप्यादर्तव्यं दर्शयतीत्युक्तम् । नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभः सम्भवति । श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते .... **तर्काप्रतिष्ठानादिति च केवलस्य तर्कस्यविप्रलम्भकत्वं दर्शयति** ।'' (ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य २।१।६) ।

यहाँ काले टाइप में छपे अंशों पर विशेषतया लक्ष्य देने योग्य है । यदि लेखिकाने श्रीशङ्कराचार्यके केवल इतने ही अंश समझ लिये होते तो निश्चय शोधप्रबन्ध इन अक्षम्य त्रुटियोंसे पूर्णतया बच जाता । अथवा दूसरे शब्दोंमें कहें तो यदि श्रीवल्लभाचार्य उल्लिखित वचन कह दें तो लेखिकाके सारे आक्षेपोंका ही नहीं अपितु सम्पूर्ण शोध-प्रबन्धका उत्तर मिल जाता है, क्योंकि यहाँ इन दोनों आचार्योंमें जितना मतैक्य है उसका दुःस्वप्न भी लेखिकाको कभी नहीं आया होगा । मत्स्यपुराणके वाक्यकी शरणमें जानेकेलिए श्रीशङ्कराचार्य इतने वेगसे दौड़े हैं कि श्रीवल्लभाचार्यके भी छः-सात सौ वर्ष पहले पहुँच गये । **'आगममात्रसमधिगम्य एव तु अयमर्थः'** (ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य २।१।६) कह कर श्रीशङ्कराचार्य श्रीवल्लभाचार्यसे, **''युक्तिगम्या तु अब्रह्मविद्या''** (अणुभाष्य १।२।३२) के सिद्धान्तमें भी बाजी मार ले गये हैं । यही तब और अधिक स्पष्ट हो जायेगा जब हम श्रुत्यनुगृहीत तर्क एवं शुष्कतर्क का स्पष्टीकरण देंगे । संक्षेपमें जब श्रीवल्लभाचार्य युक्तिका निराकरण करते हैं तो यह युक्ति वही है जिसे श्रीशङ्कराचार्य 'शुष्कतर्क' कहते हैं । इसी तरह श्रीशङ्कराचार्य जब 'श्रुत्यनुगृहीत तर्क'को ब्रह्मानुभवका अङ्ग मानते हैं तो यह तर्क वही तर्क है जिसका उल्लेख श्रीवल्लभाचार्य अपने भाष्यके आरम्भ में ही,

अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते ।
तपसा वेदयुक्त्या तु प्रसादात्परमात्मनः ॥ (अणुभाष्य १।१।१)

इस श्लोकमें 'वेदयुक्त्या' पद द्वारा करते हैं । और हम स्पष्ट देख सकते हैं कि भारतीय दर्शनके अज्ञानके कारण लेखिकाको जो तर्क अभिमत है उसे ठुकरानेमें दोनों आचार्योंमेंसे पहल श्रीशङ्कराचार्यने ही की है । अब लेखिका चाहें तो श्रीशङ्कराचार्यको 'प्रखरज्ञान-मार्तण्ड' मानें[1] चाहे न मानें, वे 'आगमावधारित अर्थ' में तर्कका या वेदादिशास्त्रसे भिन्न किसी भी अन्य प्रमाणका अवकाश ही नहीं मानते । कहा नहीं जा सकता कि यह postulate (पूर्वस्थापना) श्रीशङ्कराचार्यने very strict rigors of logic के आगे submit

1. Ś. has been labelled a 'prakhara-jnānamārtaṇḍa'....as is witnessed by the subtlety of his reasoning......his clear and bold dialectics......are apt to excite the readers' admiration. Ś. takes the reader to such dizzy heights of reasoning that at the end...the reader finds himself at a dead end...." (The Phil. of V. pp. 2-3).

किया कि नहीं[1] (तर्कके कठोर नियमोंकी कसौटी पर कसा कि नहीं), किन्तु यह निश्चिततया कहा जा सकता है कि श्रीवल्लभाचार्यके गूढतम रहस्य जाननेके बजाय श्रीदीक्षितजीमहाराजसे श्रीशङ्कराचार्यके सिद्धान्तकी ये प्रारम्भिक या मूलभूत बातें ही समझ ली गयी होतीं तो कम-से-कम श्रीशङ्कराचार्यके साथ यह इतना बड़ा अन्याय न हो पाता। जहाँ तक तर्क और शब्दप्रमाण के बलाबलका प्रस्तुत सन्दर्भमें विचार उठता हे तो उसकी सर्वसम्मत व्यवस्था हम आगे चल कर दिखलायेंगे और किसी मतके दर्शन होने या दर्शन न होने का प्रश्न भी तब वहीं समाहित हो जायेगा। अतः अब हम शोधप्रबन्धके निष्कर्षरूप सातवें परिच्छेदकी ओर चलें, जैसा कि हमने निर्धारित किया है।

●

1. देखिए, ऊपर पृष्ठ ४ पंक्ति ४–८.

द्वितीय अध्याय

चरममूल्याङ्कनकी समालोचना

इस परिच्छेदका प्रारम्भ इस विचारसे होता है कि केवल श्रीशङ्कराचार्यही प्रस्थान-त्रयी—वेद, गीता एवं ब्रह्मसूत्र के आधारपर सुसङ्गत व्याख्यान करते हैं तथा केवल वे ही विचारक हैं। अन्य सभी आचार्य, विशेषतः श्रीवल्लभाचार्य, प्रस्थानत्रयीके अलावा भागवतपुराणका आधार लेकर वेदान्तसूत्रों एवं उपनिषदोंके वचनोंपर वही अर्थ खींच-तान कर थोपते हैं जो अर्थ भागवतका उन्होंने (भ्रान्तिवश !) समझ लिया है। लेखिका कहती हैं;

"It is no wonder, therefore, that the acceptance of such an extraneous loyalty obliges him at times to force the śruti-texts to yield a meaning that he has already deduced from the tenets of the Bhāgavata." (The Phil. of V. p. 315).

यहाँ लेखिकाको एक ऐसी भ्रान्ति सता रही है जो वेदान्तके विद्यार्थीको कभी नहीं होनी चाहिये। श्रीशङ्कराचार्यने तीन ही प्रस्थानोंपर भाष्य लिखा है अतः केवल तीन प्रस्थान ही सर्वसम्मत हैं और अन्य किसी शास्त्रीय ग्रन्थको बीचमें लाना इन प्रस्थानोंके अर्थसे खिलवाड़ है, यह बात कम-से-कम श्रीशङ्कराचार्यको किसी भी दशामें मान्य नहीं हो सकती। इसके सिवा भी कई दूषण इस बन्धनपर लगाये जा सकते हैं।

(१) श्रीशङ्कराचार्यने जिनपर भाष्य लिखा है वे ही ग्रन्थ उन्हें शास्त्रीय तात्पर्यके निर्धारणकेलिए प्रमाणके रूपमें मान्य हैं—अन्य नहीं, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। श्रीशङ्कराचार्यने वेदके बहुत थोड़ेसे भाग (उपनिषदों) पर ही भाष्य लिखा है अतः अवशिष्ट वैदिक वाङ्मय अप्रमाण है यह माननेवालेको वे अपना नहीं किन्तु बौद्धोंका ही वकील मानेंगे। इसके अलावा भी वे महाभारत, रामायण, अन्य पुराणों, स्मृतियों तथा सूत्रोंको—जहाँसे वे अपने सिद्धान्तका समर्थन ही चाहेंगे—कभी Extraneous (बाह्य) माननेको तैयार नहीं होंगे।

(२) मान लिया जाये कि वे भागवतपुराणको प्रस्थानकोटिसे बहिर्भूत रखकर उसका प्रामाण्य भी मानना नहीं चाहते, किन्तु तावता क्या उनकी यह धारणा सर्वसम्मत मानी जायेगी ? यदि श्रीशङ्कराचार्यका ऐसा भारी बन्धन होता तो वेदान्त केवल शाङ्कर वेदान्त ही हो जाता और जो श्रीशङ्कराचार्यको अमान्य है वह सभी कुछ 'dogmatic,

irrational, inconsistent' (रूढ़िवादी, अविचारपूर्ण और असङ्गत) होकर सर्व-अमान्य हो जाता और लेखिकाको वाल्लभवेदान्तपर पी-एच्० डी० की डिग्री भी न मिल पाती ! ऐसी दशामें अन्य सारे वेदान्तोंको शाङ्करवेदान्तके अनुकूल होनेपर व्यर्थ एवं पुनरुक्तिमात्र और प्रतिकूल होनेपर सर्व-अमान्य होनेके कारण सिकन्दरियाके पुस्तकालयकी तरह जला देना ही कहीं अधिक तार्किक होता ।

(३) भागवतको प्रस्थानत्रयीमें श्रीवल्लभाचार्यसे पहले किसीने स्थान नहीं दिया अतः वह मान्य नहीं है ऐसा शाङ्कर, रामानुज, माध्व एवं निम्बार्क मतके पण्डितोंमेंसे किसीका भी मत नहीं है ।

(४) श्रीधरस्वामी और मधुसूदन सरस्वती जैसे शाङ्करमतके प्रमुखतम विद्वान् वेदान्तवाक्यके निदिध्यासनार्थ भागवतपुराणका असाधारण वैशिष्ट्य स्वीकार करते हैं ।

(५) सभी आचार्योंने तीनों प्रस्थानों पर भाष्य नहीं लिखा है ।

(६) शोधप्रबन्धमें कई स्थलोंपर प्रस्थानत्रयीके 'सामान्यतया स्वीकृत' (generally accepted) होने का उल्लेख बड़े ज़ोर-शोर से किया गया है, मगर इसके द्वारा जो शर्त गढ़ी जा रही है इसकी व्याख्या सम्भव नहीं है ।

(अ) इन तीनों प्रस्थानोंको श्रीशङ्कराचार्यके पूर्ववर्तियों से लेकर श्रीवल्लभाचार्य-पर्यन्त सभी आचार्य प्रमाण मानते हैं इसलिए सभीको इन्हीं तीनोंके आधारपर एक दूसरे से विचार-विमर्श या स्वमत की स्थापना करना चाहिए ।

(आ) श्रीवल्लभाचार्यके अतिरिक्त अन्य सभी आचार्योंने इन्हीं तीन प्रस्थानोंके आधारपर ही अपना मत स्थापित किया है अतः श्रीवल्लभाचार्यको व्यर्थही भागवत पुराणको बीचमें नहीं डालना चाहिए था ।

(इ) श्रीशङ्कराचार्य केवल तीन ही प्रस्थान मानते हैं इसलिए, तथा

(ई) आधुनिक इतिहासविदोंके तथा भारतीयशास्त्रविदोंके अनुसार वेदान्त और पुराणोंका कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिए श्रीवल्लभाचार्यका उपनिषदर्थका विचार करनेमें भागवतको महत्त्व देना उचित नहीं है ।

उपर्युक्त चार कल्पोंमेंसे सभी दोषपूर्ण हैं । प्रथम कल्प (अ) में यह दोष है कि श्रीशङ्कराचार्यसे श्रीवल्लभाचार्यतकके सभी आचार्य इन तीनोंको तो व्याख्येय एवं प्रामाण्य-कोटिमें स्वीकार करते ही हैं किन्तु इनके अलावा भी अन्य संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, स्मृति, पुराण तथा अन्य भी जो आर्षग्रन्थ हैं उनका प्रामाण्य एवं व्याख्येयत्व भी मानते ही हैं और इसीलिए वे उन्हें यत्र-तत्र उद्धृत भी करते रहते हैं[1] । हमने देखा है कि

1. द्रष्टव्य, 'विदात्मा तु श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणगोचरस्तन्मूलतदविरुद्धन्यायनिर्णीतशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावः ।' (अध्यासभाष्य भामती) ।

श्रीशङ्कराचार्य मत्स्यपुराणके, '**अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्**' (मत्स्यपु० ११२।६) वाक्यकी शरणमें कितने उत्साहपूर्वक जाते हैं । व्यवस्थित रूपमें अध्ययन करने वाले किसी भी विद्यार्थीको यह भली-भाँति ज्ञात हो सकता है कि उपर्युक्त ग्रन्थोंमेंसे अनुकूल या प्रतिकूल वचन मिलनेपर व्याख्याकार आचार्य सभी प्रकारके बुद्धिकौशलद्वारा समन्वयका प्रयास करते हैं । कोई भी आचार्य किसी भी शास्त्रवचनकी extraneous (बहिर्भूत) कहकर उपेक्षा नहीं करता । यहाँ तक कि जब अद्वैतवादियोंके समक्ष पद्मपुराणका '**मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते**' (पद्मपु० ६।२६३।७०) यह वाक्य रखा जाता है तो वे इसका भी अपने सिद्धान्तसे समन्वय ही सिद्ध करते हैं, इसे dogmatic (रूढ़िग्रस्त), irrational (अविचारपूर्ण) या extraneous (बहिर्भूत) कह कर अविचारणीय नहीं मान लेते ।

द्वितीय कल्प (आ) में यह दोष है कि जिनके विरोध, प्रतियोगिता या सन्दर्भ में श्रीवल्लभाचार्यने भागवतके सहारे अपना मत प्रकट किया स्वयं उनको ही श्रीवल्लभाचार्यके भागवतका प्रामाण्य माननेमें आपत्ति नहीं है; ऐसी स्थितिमें प्रायः पाँच सौ वर्ष पूर्व हुए श्रीवल्लभाचार्यसे आजके किसी शोधप्रबन्धकारकी आपत्तियोंका ख्याल रखनेकी अपेक्षा करनेमें, श्रीमती मृदुला मारफ़तियाके ही शब्दोंमें कहें तो[1] 'ऐतिहासिक कालक्रम का व्यत्यय हो जायेगा जिसे स्वीकार कर सकना विद्वानोंके लिए बहुत कठिन होगा ।' कोई भी आचार्य किसी अन्य आचार्यकेलिए बन्धन नहीं है । इसे न स्वीकार करनेपर श्रीशङ्कराचार्यका मत इसीलिए अमान्य हो सकता है कि वे चतुर्थप्रस्थान भागवतपर स्वमतानुकूल भाष्य नहीं लिख पाये !

तृतीय कल्प (इ) का उत्तर तो स्वयं श्रीमती मृदुला मारफ़तियाका ग्रन्थारम्भका यह कथन ही है कि 'प्रायः '**वेदान्त**' पदका अर्थ बहुत सङ्कुचित रूपमें लिया जाता है और इसे शङ्कराचार्यके मत का बोधक समझ लिया जाता है········किन्तु वेदान्तके अन्य सम्प्रदाय भी हैं[2] ।'

(ई) कल्पके अनुसार आधुनिक भारतीयविद्याविदोंके मतसे वेदान्त और पुराणों के विषय, प्रयोजन, काल एवं कर्ता में अन्तर होनेके कारण उपनिषदर्थविचारणामें पुराणोंका उपयोग नहीं करना चाहिये । इस मतको स्वीकार कर लेने पर श्रीशङ्कराचार्यको उपनिषदर्थविचारणामें पुराणोंका उपयोग करनेका दोषी मानना होगा क्योंकि उन्होंने

1. "...involves a chronological reversal of order which would hardly be acceptable to a scholarly mind." (The Phil. of V. p. 316).
2. "The term 'Vedānta' is often too narrowly understood to denote the philosophical system of 'Śaṅkarācārya' ...... But there are other Vedānta-schools as well... ." (The Phil. of V. p. III.).

वेदान्तसूत्रके अपने भाष्यमें मत्स्यपुराणादिके वाक्योंका उपयोग और 'क्रोनोलॉजिकल रिवर्सल ऑफ़ आर्डर' (ऐतिहासिक क्रम का व्यत्यय) किया है। यदि मत्स्यपुराणके इस वाक्यके विचारकी आदर्श वेदान्ती रीति मान लें—जैसा कि श्रीशङ्कराचार्यके इसे उद्धृत करनेसे अनिवार्य हो जाता है—तो फिर श्रीवल्लभाचार्यने वही पद्धति अपनायी है जिसे '**नैषा तर्केण मतिरापनेया**' (कठोप० १।२।९), '**तर्काप्रतिष्ठानात्**' (ब्रह्मसूत्र २।१।११) और '**अचिन्त्या खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्**' (मत्स्यपु० ११२।६) यों 'क्रोनोलॉजिकल रिवर्सल' नहीं अपितु 'क्रोनोलॉजिकल डेवलपमेण्ट' का बल है।

अब रहा यह कि भागवतपुराणका अद्वैतसिद्धान्तमें क्या महत्त्व है तो यह जाननेकेलिए श्रीधरस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती का अभिप्राय पूछ लेना चाहिये ताकि वेदान्तविचारार्थ कौनसे शास्त्र 'generally accepted' (साधारणतया स्वीकृत) हैं और कौनसे नहीं यह ज्ञात हो जाये। श्रीधरस्वामी कहते हैं, "'**धीमहि' इति गायत्र्या प्रारम्भेण च गायत्र्याख्यब्रह्मविद्यारूपमेतत्पुराणमिति दर्शितम्**" (भाग० भावार्थदीपिका १।१।१) तथा "**श्रीभागवतस्य काण्डत्रयविषयेभ्यः सर्वशास्त्रेभ्यः श्रैष्ठ्यं दर्शयति 'धर्मः' इति**" (भाग० भावार्थदीपिका १।१।२)। उनके इस परवर्ती वाक्यकी व्याख्या करते हुए श्रीवंशीधर भावार्थदीपिकाप्रकाशमें लिखते हैं "**काण्डत्रयं हि देवताकाण्ड-कर्मकाण्ड-ज्ञानकाण्डरूपं विषयो येषां शास्त्राणां तेभ्यः परमः सर्वोत्कृष्टः।**" इसी प्रकार श्रीमधुसूदन सरस्वतीका कहना है कि "**एवं सति 'पारमहंसी संहिता' इति समाख्या उपपद्यते। परमहंसानां वेदान्तवाक्यार्थनिदिध्यासनरूपत्वादत्रत्योपाख्यानानां तत्तात्पर्यकत्वात्। एवं 'ध्यायेम' इति पदस्थाने 'धीमहि' इति छान्दसप्रयोगात् गायत्रीरूपत्वमस्याः सूचितम्**" (भाग० भावार्थ-प्रकाशिका १।१।१)।

अपनी कृति के पृष्ठ ३१६ पर श्रीमती मारफ़तिया लिखती हैं, "It is for reasons such as internal consistency and the height of logical acumen as also for the profundity of thought that Ś.'s system has such a wide range of followers. As against Rāmā. and V., Ś. is entirely free from sectarian entanglements." इसका तात्पर्य यही है कि 'शङ्करके मतके अनुयायियोंकी जो विशालता या बहुसंख्यकता है वह उनके मतकी आन्तरिक परस्परसंवादिता या संगति, उच्चकोटिकी तार्किक क्षमता तथा विचारगाम्भीर्यके कारण। रामानुज एवं वल्लभके विपरीत शङ्कर साम्प्रदायिक बन्धनोंसे पूर्णतया मुक्त हैं।'

मैं समझता हूँ कि सम्भवतः वाल्लभमतके एक करोड़ अनुयायी तो होंगे ही अतः श्रीवल्लभाचार्यकी बुद्धि और तार्किकताकी डिग्री एक है! सम्भवतः रामानुजमतानुयायी दो करोड़ हों तो रामानुजकी बुद्धिकी डिग्री दो और शाङ्करमतके अनुयायियोंकी संख्या तीन करोड़ भी हो तो शङ्कराचार्यकी बुद्धि और तर्क की डिग्री तीन ही सिद्ध हो सकती

है ! जब कि इससे कहीं अधिक संख्या बुद्ध के अनुयायियोंकी है। ईसाईमतावलम्बी तो और भी ज़्यादा हैं। चीन, रशिया तथा अन्य साम्यवादी देशोंको भी मिलानेपर मार्क्सके माननेवालोंकी संख्या सम्भवतः सौ करोड़ हो जाती हो तो श्रीशङ्कराचार्यसे तो कहीं अधिक शतप्रतिशत तार्किक एवं बुद्धिमान् मार्क्स हुए। वस्तुतः बुद्धि पर किसीका भी एकाधिकार तो है नहीं, दुनियामें एकसे बढ़ कर दूसरे बुद्धिमान् पैदा होते आये हैं और होते रहेंगे। अतः कौन सर्वाधिक बुद्धिमान् है यह नापनेका न तो अभी अवसर ही आया है और न आवश्यकता ही। लेखिका भागवतको प्रमाण माननेके कारण श्रीवल्लभाचार्यपर साम्प्रदायिकताका आरोप लगाती हैं वह ठीक है; प्रमाणवार्तिक श्लोक ३४२ की व्याख्यामें,

वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिङ्गानि जाड्ये॥

इत्यादि कहने वाले बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति भी तो सम्भवतः श्रीशङ्कराचार्यपर, उनके वेदको प्रमाण माननेके कारण यह आरोप लगाना चाहेंगे कि वे साम्प्रदायिक हैं, अन्धविश्वास फैलाने वाले हैं और उनके मतमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो बुद्धिमानोंको स्वीकार्य हो।

वैसे अंग्रेजीमें 'थियोलॉजी[1]' (अर्थात् देवशास्त्र) का मतलब सम्भवतः गाली देना नहीं है, अतः लेखिका जब इसी (३१६ वें) पृष्ठ पर वाल्लभ मतको दर्शन न मानकर 'थियोलॉजी' मानती हों[2] तो मैं क्यों कहूँ कि वह 'थियोलॉजी' नहीं है। जैसे शाङ्कर

---

1. Theology. *n*. The science which treats of God, and of man's duty to Him. (Chambers's Twentieth Century Dictionary, p. 1005).
2. 'Śuddhādvaita doctrines......represent more of theology than of philosophy.' (The Phil. of V. p. 316).

Theology तथा Philosophy के भेदको समझाते हुए फ़ादर काप्लीस्टन(Frederick Copleston, S. J.) लिखते हैं, "While the philosopher starts from the world of experience and argues by reason to God in so far as He can be known by means of creatures, the theologian starts with God as He has revealed Himself, and the natural method in theology is to pass from God in Himself to creatures rather than to ascend from creatures to God as the philosopher does and must do. It follows that the principal difference between theology and philosophy lies in the fact that the theologian receives his principles as revealed and considers the objects with which he deals as revealed, or as deducible from what is

मत 'थियोलॉजिकल फ़िलॉसफ़ी' है वैसे ही वाल्लभ मत भी 'थियोलॉजिकल फ़िलासफ़ी' है। या शायद 'फ़िलॉसॉफ़िकल थियोलॉजी' ही हो—कुछ भी हो सकता है।

हाँ, वैसे जगत्को मिथ्या मानने वाले शाङ्कर मतका थियोलॉजी होना तो इसीसे सिद्ध होता है कि श्रीशङ्कराचार्यने जगत् को मिथ्या माना है! मैं कोई अनहोनी बात नहीं कर रहा हूँ। मिथ्या वही होता है जिसका बाध हो। जगत्का बाध विना ब्रह्मज्ञानके नहीं होता[1] और ब्रह्मज्ञान होता है उपनिषद्के वचनोंका श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करनेसे, तथा उपनिषद्के वचनों को सुननेका अधिकार कम-से-कम श्रीशङ्कराचार्यके अनुसार, न तो लेखिकाको है और न अन्य 'स्कॉलरली माइन्डेड' रेवरेण्ड फ़ादर या ग्लासेनाप आदिको ही, वह तो द्विजोंका अधिकार है[2]। अब जिसे ब्रह्मज्ञानका अधिकार ही नहीं उसे ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता और ब्रह्मज्ञानके अभावमें जगत्का बाध नहीं हो सकता, अतः स्वानुभूतिके बलपर जगत्के मिथ्या होनेकी सिद्धि कम-से-कम अनुपनीत व्यक्ति तो नहीं ही कर पायेगा। अब रहा यह प्रश्न कि यह मत 'थियोलॉजिकल फ़िलॉसफ़ी' है या 'फ़िलासॉफ़िकल थियोलॉजी', तो मेरा उत्तर है कि इसे भी शुद्ध 'थियोलॉजी' ही मानना चाहिये। विना उपनयनसंस्कारके तो इस ब्रह्मविद्या या वेदान्तदर्शनके विचारका भी अधिकार नहीं तो सिद्ध क्या और कैसे होगा? श्रीशङ्कराचार्यका तो 'साइन्टिफ़िक एप्रोच' भी यही है और 'रैशनल एप्रोच' भी यही है, और 'कन्सिस्टेन्सी' का आग्रह तो श्रीशङ्कराचार्यके बजाय लेखिकाको ही अधिक है।

---

revealed, whereas the philosopher apprehends his principles by reason alone and considers the objects with which he deals, not as revealed but as apprehensible and apprehended by the natural light of reason." (A History of Philosophy, Vol. II, part II, page 31).

श्रुतिको ही केवल प्रमाण मानकर चलनेवाले श्रीशङ्कराचार्य तथा श्रीवल्लभाचार्य दोनों ही ऐसी स्थितिमें 'थियोलोजियन' ठहरते हैं। श्रुतिमें तर्काश्रित निरूपण नहीं किन्तु अन्तःस्फुरणाश्रित निरूपण ही है। अतएव ऋषियोंको मंत्रद्रष्टा माना गया है। (यह सूद्धरण हमें श्रीकेदारनाथ मिश्रजीसे प्राप्त हुआ है।)

1. 'ब्रह्मज्ञानेतरावाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं मिथ्या' (अद्वैतसिद्धिः, प्रथमपरिच्छेद, पञ्चतावच्छेदकविचार)।

2. 'तस्मादधिक्रियते शूद्रो विद्यास्विति। एवं प्राप्ते ब्रूमः, न शूद्रस्याधिकारः, वेदाध्ययनाभावात्। अधीतवेदो हि विदितवेदार्थो वेदार्थेष्वधिक्रियते। न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति; उपनयनपूर्वकत्वाद्वेदाध्ययनस्य। उपनयनस्य च वर्णत्रयविषयत्वात्। यत्त्वर्थित्वं न तदसति सामर्थ्येऽधिकारकारणं भवति। सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति, शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्यापेक्षितत्वात्, शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्याध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात्।' (ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य १।३।३४)

अपनी कृतिके पृष्ठ ३१७ पर श्रीमती मृदुला मारफ़तिया लिखती हैं, "V.'s system is based more radically than other systems on the authority of 'śabda', and he repeatedly declares that dry logic or mere reasoning has no place in his system if it is in conflict with 'śabda', since it can only lead to 'Abrahma-vidyā.'......Again, the modern scientific and rationalistic approach to the subject necessitates the separating of the grain from the chaff." और आगे चलकर पृष्ठ ३१८ पर वे लिखती हैं, "he postulates that Br. is both Saguṇa and Nirguṇa (though in a special sense), since the śruti so decleres;—and if that involves contradiction in terms, on the human level of logic, be it so, for, Br. is "an abode of contradictory attributes". This attitude to cling to the word of the śruti has thus led V. to formulate principles, which completely put reasoning out of court and hence they hardly remain acceptable." (The Phil. of V. p. 318).

लेखिकाके उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यही है कि श्रीवल्लभाचार्यकी शब्दकी तरफ़ दौड़नेकी मनोवृत्तिने ऐसे सिद्धान्तको जन्म दिया कि पूर्णरूपेण युक्तियुक्त विचारका स्थान ही नहीं रह गया और इसीलिए इसे मुश्किलसे स्वीकार किया जा सकता है। यह सब विशेषतः इसलिए हुआ कि श्रीवल्लभाचार्यने ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय ही मान लिया।

मगर श्रीशङ्कराचार्यने भी मायाको विरुद्धधर्माश्रय और मानवीय तर्ककी पकड़से बाहर माना, फिर भी श्रीशङ्कराचार्यका 'एप्रोच' 'रैशनल' और 'साइंटिफ़िक' है अतः कोई आपत्ति नहीं। अद्वैतीका **"अनुपपत्तिर्हि मायामुपोद्बलयति अनुपपद्यमानार्थत्वान्मायायाः"** (भामती १।४।२२) यह कहना तो 'रैशनल एप्रोच' है (!) मगर श्रीवल्लभाचार्य जब यह कहते हैं कि **"युक्तिगम्या तु अब्रह्मविद्या"** (अणुभाष्य १।२।३२) अथवा **"विरोध एव नाशङ्कनीयः वस्तुस्वभावात्"** (अणुभाष्य १।२।३२) तो शब्दोन्मुखी दौड़ उनके मतको दर्शनपदसे च्युतकर 'थियोलॉजी' बना देती है! श्रीवल्लभाचार्यसे पूछा जाये तो वे कहेंगे, **"इष्टापत्तिः।"**

ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय एवं तर्कागम्य मानकर श्रीवल्लभाचार्यने तो बौद्धिक अनर्थ कर ही डाला है (!) मगर श्रीवल्लभाचार्यसे पाँच-छः शताब्दी पहले प्रादुर्भूत होनेके कारण श्रीशङ्कराचार्य यहाँ भी बाज़ी मार ले गये हैं। शुष्कतर्कका निषेध कर तथा ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय मानकर श्रीशङ्कराचार्यने श्रीमती मृदुला मारफ़तियाकी शब्दावलीमें, 'शब्दप्रमाणकी बलिवेदीपर तर्कका बलिदान[1]' पहले ही कर दिया था। श्रीवल्लभाचार्यको

1. "......to sacrrifice reason to the final and 'vetoing' power of the scriptural testimony...." (The Phil. of V. p. 318.)

तो उस बलिदानके पुण्यका केवल फल मिला, देखिये—

(१) **तार्किकैस्तु परित्यक्तागमबलैः अस्ति नास्ति कर्त्ताकर्त्तेत्यादि विरुद्धं बहु तर्कयद्भिः आकुलीकृतः शास्त्रार्थः तेनार्थनिश्चयो दुर्लभः। ये केवलशास्त्रानुसारिणः शान्तदर्पास्तेषां प्रत्यक्षविषय इव निश्चितः शास्त्रार्थः।** (बृह० उप० शाङ्कर भाष्य १।४।६)।

(२) **तस्मात्तार्किकचाटभटराजाप्रवेश्यम् अभयं दुर्गमिदमल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैश्च,** 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति" (कठोप० १।२।२१), "देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा" (कठोप० १।१।२१), "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठोप० १।२।९), वरप्रसादलभ्यत्वश्रुतिस्मृतिवादेभ्यश्च; "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके" (ईशोप० ५) **इत्यादिविरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यश्च।** (बृह० उप० शाङ्करभाष्य २।१।२०)।

(३) **न तार्किकपरिकल्पतात्मवत्पुरुषबुद्धिप्रमाणगम्य इत्यभिप्रायः।**

(माण्डू० उप० शाङ्करभाष्य ३।११)।

(४) **ब्रह्म चैवमाचार्योपदेशपरम्परयैवाधिगन्तव्यं, न तर्कतः।**

(केनोप० शाङ्करभाष्य १।३)।

(५) **अतो न तार्किकवादभटप्रवेशो वेदान्तराजप्रमाणबाहुगुप्त इहात्मैकत्वविषय इति।** (प्रश्नोप० शाङ्करभाष्य ६।३)।

(६) **तस्माद् यथाशास्त्रोपदेश एवात्मावबोधविधिः नान्यः; न ह्यग्नेर्दाह्यं तृणाद्यन्येन केनचिद् दग्धुं शक्यम्।** (ऐत० उप० शाङ्करभाष्य २।१।१)।

(७) **इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम्। यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति, उत्प्रेक्षायाः निरंकुशत्वात्। तथापि प्रकृते तावद्विषये प्रसज्यत एव अप्रतिष्ठितत्वदोषादनिर्मोक्षस्तर्कस्य, न हीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनमागममन्तरेणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम्। रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनामिति चावोचाम।**

(ब्रह्मसूत्रशाङ्करभा० २।१।११)।

(८) **स्वविषयशूराणि हि प्रमाणानि श्रोत्रादिवत्।**

(बृह० उप० शाङ्करभाष्य २।१।२०)।

इस वाक्यसूचीको तो बढ़ाया जा सकता है मगर और कुछ नहीं अन्तिम छोटेसे वाक्यका भी मतलब ठीकसे समझमें आ जाये तो उपर्युक्त शोधप्रबन्धमें की गयी आपत्तियाँ कितनी निःसार हैं, यह सहज ही जाना जा सकता है। श्रीवल्लभाचार्य ब्रह्म एवं ब्रह्मसम्बन्धी सारे विचारोंकेलिए युक्तिको अनुपयुक्त मानते हैं और यहीं उनका सबसे बड़ा तार्किक दृष्टिकोण प्रकट होता है। लेखिकाकी वाल्लभ मतके बारेमें क्या

धारणा है, इसका निर्णय यदि मैं इस शोधप्रबन्धको पढ़े विना इस प्रकारके तर्क-वितर्कों द्वारा ही कर लूँ कि लेखिकाका जन्म वल्लभसम्प्रदायके अनुवर्तियोंके घरमें हुआ है अतः लेखिका श्रीवल्लभाचार्यको श्रीशङ्कराचार्यसे भी महान् दार्शनिक मानती हैं, अथवा श्रीदीक्षितजी महाराजके समान 'सम्प्रदायके एकमेव विद्वान्' से लेखिकाने वाल्लभ मतके गूढतम रहस्योंका ज्ञान प्राप्त किया है अतः लेखिका श्रीवल्लभाचार्यको दार्शनिक एवं श्रीशङ्कराचार्यको केवल धर्मविचारक मानती हैं, तो क्या मेरा यह दृष्टिकोण तार्किक होगा ? यदि लेखिकाकी धारणा केवल लेखिकाके शब्दोंके आधारपर ही समझना अन्ध-श्रद्धा या 'इर्रैशनलिटी' (अविचारपूर्णता) नहीं तो वेदार्थ-ब्रह्मको वेदके शब्दोंके आधारपर समझना कैसे 'इर्रैशनलिटी' और कैसे 'डॉग्मेटिक एप्रोच' होगा, यह सोच-सोचकर थक जाता हूँ, मगर समझ नहीं पाता ।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि जब श्रीवल्लभाचार्य—**"युक्तिगम्या त्वब्रह्म-विद्या"** (अणुभाष्य १।२।३२) कहते हैं तो उनका तात्पर्य यही है कि—

(१) **'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'** अर्थात् लक्षण एवं प्रमाणसे वस्तुकी सिद्धि होती है, युक्तिसे नहीं, यह सर्ववादिसम्मत अर्थात् चार्वाक, बौद्ध, न्याय, सांख्य, मीमांसक एवं श्रीशङ्कराचार्य तक सभीको मान्य हो तो—

(२) जैसा कि मीमासकोंका सिद्धान्त है सभी प्रमाणोंका प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है अतः प्रमाणसे सिद्ध होनेपर तर्क या सन्देहकेलिए अवकाश न रह जाता हो तो—

(३) जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण हैं वैसे ही शब्दके भी प्रमाण होनेसे—श्रीवल्लभाचार्यकी अन्धश्रद्धावश नहीं किन्तु अरस्तूकी तार्किकतावश—

सभी प्रमाण स्वतः प्रमाण हैं
शब्द एक प्रमाण है
अतः शब्द भी स्वतः प्रमाण है

यों शब्दका भी स्वतः प्रमाण होना—अर्थात् तर्क या प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंकी अपेक्षा रखे विना प्रामाण्य सिद्ध हो तो—

(४) जैसा कि न्याय, सांख्य, मीमांसा श्रीशङ्कराचार्य आदि सभीको मान्य है, वेदका भी शब्दके रूपमें प्रामाण्य हो तो—

(५) जैसा कि श्रीशङ्कराचार्यके **'रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम्, आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत्'** (ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य २।१।६) इत्यादि कहने से ज्ञात होता है, वेदके अर्थका ज्ञान वेदके जानने-पर ही प्राप्त होता हो तो—

(६) जैसाकि श्रीशङ्कराचार्यके **'इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्था-तव्यम्'** (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।१।११) इस कथनसे ज्ञात होता है केवल वेद द्वारा ही

जाने जा सकनेवाले ब्रह्मके बारेमें 'केवल तर्क'—जो श्रुतिके अर्थको सिद्ध न करता हो—के विरोधकी चिन्ता करना योग्य न हो तो—

ब्रह्मका जैसा भी निरूपण वेदमें मिलता हो वैसा ही उसे (ब्रह्मको) मानना चाहिये, ऊटपटांग तार्किकम्मन्यताकी भ्रान्तिके आधार पर नहीं।

श्रीवल्लभाचार्यका केवलइतना सा मत है। इसके प्रत्येक आधारवाक्यको श्रीशङ्कराचार्यकी स्वीकृति प्राप्त है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस निष्कर्षको श्रीशङ्कराचार्यकी स्वीकृति प्राप्त नहीं है क्योंकि उन्होंने इस निष्कर्षको भी इसी रूपमें ज्यों-का-त्यों ही स्वीकार किया है।

'तत्प्रत्युच्यते, न लोकवदिह भवितव्यम्, न ह्ययमनुमानगम्योऽर्थः। शब्दगम्यत्वात्त्वस्यार्थस्य यथाशब्दमिह भवितव्यम्।' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य १।४।२७)। **'न हीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यम्·······आगममन्तरेणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम्।'** (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।१।११)।

जहाँ ऐसी किसी वस्तु की उत्प्रेक्षाका भी निषेध किया जा रहा है वहाँ, "Thus 'tarka' or reasoning has to be given its due, lest the ascertainment of meaning should be capriciously dogmatic and irrational……" (The Phil. of V. p. 46) इत्यादि वाक्यमें उल्लिखित 'तर्क' का due (प्राप्तव्य) क्या है यह समझना मुश्किल है। सम्पूर्ण शोधप्रबन्धमें श्रीवल्लभाचार्यको 'डॉग्मैटिक' कहनेकी तो लेखिकाकी आदत सी ही पड़ गयी लगती है। वस्तुतः 'रैनशल एप्रोच' पद जितना 'इर्रैशनली' इस शोधप्रबन्धमें प्रयुक्त हुआ है उसका अन्यत्र उदाहरण मिलना दुष्कर है।

श्रीवल्लभाचार्य और श्रीशङ्कराचार्यमेंसे श्रुतियोंके साथ न्याय कौन अधिक करता है इस समस्या पर भी लेखिकाने विचार किया है।

"…V. accepts all the śrutis and declares them to be authoritative and hence proves himself to be a better follower of the śruti —as much—than Ś. As against this, one may point out that it is far better to be 'selective' and clear about the acceptance of one's fundamentals and then present a system consistent in itself and based on reason—rather than "swallow" anything and everything without any discrimination while laying the foundation for one's system of thought and then stumble at every step that follows." (The Phil. of V. p. 319).

तात्पर्य यह है कि श्रीमती मृदुला मारफ़तियाके अनुसार मौलिक धारणाओंको स्वीकार करते समय विवेकपूर्वक चयन करना एवं स्पष्ट होना तथा उसके बाद एक ऐसे सिद्धान्तका उपपादन करना जो अपने-आपमें सुसम्बद्ध, संगत तथा तर्काश्रित हो ज्यादा

अच्छा है बजाय इसके कि व्यक्ति अपने दर्शनकी नींव रखते समय बिना किसी विवेकके कुछ भी और सभी कुछ निगल जाये और बादमें हर कदमपर लड़खड़ाये ।

लेखिकाके अनुसार विचारका यह रेडीमेड फ़ार्मूला श्रीशङ्कराचार्य तो अपनाते हैं किन्तु श्रीवल्लभाचार्य अपने मतकी नींवकेलिए अस्तव्यस्त बिखरे हुए श्रुतिप्रामाण्यके पत्थरोंकी ठोकर खाकर लड़खड़ा रहे हैं । यदि लेखिकाने श्रीशङ्कराचार्यके मतका अध्ययन ठीकसे किया होता तो उन्हें मालूम होता कि प्रखर ज्ञानमार्तण्ड श्रीशङ्कराचार्यका मत तो तर्कनिरपेक्ष श्रुतिके प्रमाणोंके अपने बिछाये पत्थरोंसे ठोकरें खा-खा कर आज सैकड़ों वर्षोंके लम्बे समयमें इतना जर्जरित हो गया है कि लोग बिना पढ़े उसे अब कुछ भी मान लेने को तैयार होगये हैं !

ऊपर दिये हुए लेखिकाके स्वमतस्थापनार्थ आवश्यक विचारके नुस्खेको श्रीशङ्कराचार्य कितने सुन्दर शब्दोंमें अस्वीकार करते हैं, "**अपि च क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्ट इति नैतावता शब्दप्रमाणकेऽर्थे गौणीकल्पना न्याय्या; सर्वत्र अनाश्वासप्रसङ्गात्**" । (ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य १।१।७) ।

लेखिकाने कई जगह स्वीकृत विचारक्षितिजका आग्रह रखा है, अतः हम भी आग्रह करते हैं कि इन दोनों आचार्योंका स्वीकृत विचारक्षितिज यही है और इसे ही लेखिकाको भी स्वीकार करना चाहिये, बजाय ऐसे नये क्षितिजोंके निर्माणके, जो इन दोनोंमेंसे किसीको भी स्वीकार्य न हों । लेखिकाके फ़ार्मूलेके अनुसार Selective (चयनात्मक) होनेका अनिवार्य परिणाम होगा, Selected (चयन किये हुए) वचनोंका अभिहित अर्थ और Rejected (अस्वीकृत) वचनोंका लाक्षणिक अर्थ या गौणार्थ । श्रीशङ्कराचार्य इससे ज़ोरशोरसे इन्कार करते हैं क्योंकि सांख्य एवं न्याय भी अपने तर्काश्रित दर्शनोंको उपनिषदोंपर थोपते हैं और तब प्रखर ज्ञानमार्तण्डपर भी सांख्य एवं न्याय मतके तर्कोंके मेघ छा जाते हैं और सर्वत्र अन्धकार प्रतीत होने लगता है । इन तर्कमेघोंको छितरानेका उपाय स्वयं सूर्यके पास नहीं होता, परन्तु श्रुतिप्रामाण्यकी तेज़ हवा ही उसे पुनः थोड़ा-बहुत चमकने का अवसर देती है कि "अपने तर्काश्रित विचारोंसे सङ्गति बैठानेकेलिए श्रुतियोंके गौण अर्थ नहीं करने चाहिये । लोकमें (हिम्मतीको शेर अथवा मूर्खको उल्लू कहा जाता है तो) गौण अर्थ होता है किन्तु जो केवल शब्दसे ही जानी जाती हो उस वस्तुकी व्याख्यामें अपने तर्ककी सङ्गति बैठानेकेलिए गौण अर्थ नहीं करना चाहिये । अन्यथा कहीं भी कुछ या सभी-कुछ वेदके नामपर स्वीकार किया जा सकता है ।"

यदि इस आधार पर श्रीशङ्कराचार्य सांख्यको चुप कर सकते हैं तो श्रीवल्लभाचार्य श्रीशङ्कराचार्यको क्यों चुप नहीं कर सकते ? वेदान्त दर्शनके समग्र इतिहासमें इस फ़ार्मूलेके आधारपर कभी विचार नहीं हुआ है, किन्तु, 'उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद एवं उपपत्ति' के आधारपर ही विचारका आग्रह रखा गया है । सभी

वचनोंका समन्वय किसके मनमें अधिक है, विभिन्न श्रुतियों की परस्पर सुसङ्गत व्याख्या कौन कर दिखाता है, यही वेदान्तके विचारका स्वरूप माना गया है। किसका विचार तर्काश्रित है यह देखनेपर 'औपनिषद तत्त्व' की जिज्ञासा नहीं रह जायेगी[1]।

शोधप्रबन्धके इसी पृष्ठपर लेखिकाका आरोप है कि स्वमतानुकूल वचनचयन यदि श्रीशङ्कराचार्यकेलिए दोष है तो वह श्रीवल्लभाचार्यपर भी लागू होगा[2]। मगर यह मूलतः भ्रान्ति है क्योंकि दोष किसी वचनके चयनमें नहीं किन्तु वचनके गौण या लाक्षणिक अर्थ करनेमें है। और हम यह पूर्ण गर्वके साथ कह सकते हैं कि श्रीवल्लभाचार्यको स्वमतके स्थापनकेलिए कहीं भी गौणी कल्पना नहीं अपनानी पड़ती, जबकि श्रीशङ्कराचार्य साख्य-के सामने परोपदेशपाण्डित्य दिखा कर स्वमतस्थापनार्थ मूलभूत धारणाओंको भी श्रुतिके गौणार्थ किये बिना स्पष्ट नहीं कर पाते। ऐसी स्थितिमें दोनोंकी तुलना कैसे सम्भव है? लक्षणा या गौणार्थ की तभी अपेक्षा होती है जब अभिधासे अर्थ सिद्ध न हो पाये। किन्तु सवाल तो यहाँ यह है कि अभिहित अर्थ सिद्ध होता है या नहीं इसका निश्चय हम किस प्रमाणके आधारपर करें? जब ब्रह्म अपनी परिभाषाके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान या तर्क आदिका विषयही नहीं, तब बच जाती है स्वयं श्रुति। अब यदि दो श्रुतियोंमें दो विरोधी बातें ब्रह्मके बारेमें कही गयी हों तो वह विरोध हमारे तार्किक दृष्टिकोणमें ही उभरता है। अब यदि ब्रह्मकी परिभाषा ही तर्कातीत वस्तुके रूपमें दी जाती हो तो तर्कविरोधका प्रभाव तर्कागम्य वस्तुपर मानना तो स्वयं एक तार्किक विसङ्गति है। ऐसी स्थितिमें उचित समाधान यही है कि स्वयं श्रुतिका तात्पर्य ही दो विरोधी गुणों या स्वभावके चित्रणमें है यह हम स्वीकार कर लें। इसीका मतलब है ब्रह्मका 'विरुद्धधर्माश्रय' होना। अब यह न स्वीकार कर किसी एक वाक्यको मुख्य एवं अन्यको गौण मानकर सङ्गति बैठाते हैं तो— (१) सांख्यको क्या मुँह दिखाना और (२) तर्कागम्यको तर्कगम्य भी मानना पड़ेगा, जो पुनः **'विरुद्धधर्माश्रय'** होने का ही दूसरा नाम है, जिसे लेखिका श्रुतिप्रामाण्यकी बलिवेदीपर तर्कका बलिदान मानती है।

पृष्ठ ३२० पर लेखिकाने कई ऊटपटाँग बातें की हैं। सर्वप्रथम तो एक विचित्र तुलना श्रीवल्लभाचार्यके परब्रह्म तथा अक्षरब्रह्मके प्रभेद की, सम्भवतः, शबलब्रह्म तथा प्रबलब्रह्म के शाङ्करमताभिमत प्रभेद से की है, और यह निर्धारण भी किया है कि इस

---

1. न त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि (बृह० उप० ३।९।२६)।
2. Thus, if discrimination regarding the selection of texts, etc., were considered to be a drawback in the case of Ś., there is hardly anything to safeguard V.'s position from its being challenged on the same grounds,...from this point of view of 'selection', etc., there is hardly anything to choose between the two, viz., Ś. and V. (The Phil. of V. pp. 31 -320).

तरहका—पर तथा अक्षर का प्रभेद श्रुतिमान्य नहीं है[1]। मुझे प्रतीत होता है कि यहाँ आकर शाङ्करमतकी वकालतकी धुनमें लेखिका कई बार उद्धृत—'प्रस्थानत्रयी' के 'Generally accepted' (सामान्यतया स्वीकृत) होनेकी बात भी भूल गयी है। अन्यथा उन्हें गीतामें,

> **यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।**
> **अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम ॥** (**गीता १५।१८**),
> **क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।**
> **अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥** (**गीता १२।५**),

तथा '**तद्धाम परमं मम**' (गीता ८।२१ तथा १५।६) आदि अनेक वचनोंमें कही गयी श्रीकृष्णकी पुरुषोत्तमता या परब्रह्मता तथा अक्षरब्रह्मकी अवरता अवश्य याद आती।

खैर, इसके बाद लेखिकाने कहा है कि सुसम्बद्धता तथा युक्तियुक्तताके आधारपर किसी भी विचारसरणिकी महत्ता आँकनी चाहिये। ध्वनि यहाँ यह है कि वाल्लभमतमें ये गुण नहीं हैं तथा शाङ्करमतमें है।

इस सन्दर्भमें हम यह खुलासा दे दें कि शाङ्करमतकी आलोचना यद्यपि हमारी प्रस्तुत समालोचनाका उद्देश्य नहीं है, फिर भी, लेखिकाने शाङ्करयुक्तियोंके सन्दर्भमें वाल्लभयुक्तियोंके खण्डनार्थ असफल चेष्टाकी है, अतः अब हम शाङ्करमतकी आलोचना भी प्रस्तुत करेंगे; विद्वान् पाठक बादमें स्वयं निर्धारित करें कि कौन सा मत सुसम्बद्ध एवं युक्तियुक्त है।

लेखिकाका कहना है कि सूत्रकारके अनुसार श्रुतियाँ केवल निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन-करती हैं क्योंकि निर्विशेषता ही ब्रह्म का प्रधान पहलू है। समझमें नहीं आता कि लेखिकाको सूत्राशय इस तरह सहसा कैसे ज्ञात हुआ। और बिना कोई हेतु दिये हुए आरम्भसे सूत्रोंका अर्थ वही लिया जाये तो शाङ्कर और वाल्लभ अर्थकी तुलनाका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता क्योंकि लेखिका अन्धश्रद्धावश शङ्कराचार्यके अर्थको स्वयंसिद्ध अर्थ मान-कर चलती हैं। यद्यपि विचारसे पूर्व यह निर्णय होना कठिन है कि "**अरूपवदेव हि तत्प्रधान-त्वात्**" (ब्रह्मसूत्र ३।२।१४) में '**अरूपवदेव**' का तात्पर्य, अरूपतुल्य ही, रूपरहित ही, अनभिव्यक्तरूप ही, प्राकृतरूपरहित ही अथवा रूपवत् वस्तुसे भिन्न ही ब्रह्म है यों इनमेंसे कौनसा लेना ? यदि विचार किये बिना जो श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं वही ठीक है तो वह रिसर्च कहला सकती है, बुद्धिमत्ता नहीं !

---

1. '...the śruti does not lay down that Saguṇa Br. should be regarded as the higher Br. and Akṣara the lower.' (The Phil. of V.p. 32).

लेखिकाके अनुसार (१) श्रीवल्लभाचार्यकी व्याख्या सन्दिग्ध है और (२) 'अरूपवत्' इस समस्तपद का जैसा विग्रह श्रीवल्लभाचार्य करते हैं वैसा करने से तो और अबुद्धिगम्य हो जाती है। न केवल इतना ही अपितु (३) यह व्याख्या इस बातका उदाहरण है कि भाष्यकार (श्रीशङ्कराचार्य नहीं केवल श्रीवल्लभाचार्य) खींचतानकर स्वमतानुकूल अर्थ बिठा ही देते हैं (४) जब कि सूत्र इस तथ्यको भारपूर्वक कहता है कि सभी श्रुतियाँ ब्रह्मको नीरूपत्वेन प्रतिपादित करती हैं अतः वह नीरूप है। (५) "**अरूपवद् एव**" में एवकार तो और भी इसी तथ्यका समर्थन करता है।

खूब युक्ति है ! इस सम्पूर्ण अनुच्छेद में केवल प्रतिज्ञा ही प्रतिज्ञा है, कुल मिलाकर पाँचों प्रतिज्ञाओंमेंसे एक प्रतिज्ञाकेलिए भी हेतूपन्यास नहीं किया गया है । आइये हम भी ऐसी ही प्रतिज्ञायें श्रीशङ्कराचार्य की व्याख्याकेलिए कर लें !

(१) श्रीशङ्कराचार्यकी व्याख्या सन्दिग्ध है और (२) '**अरूपवत्**' इस पद का 'रूप-रहित' अर्थ करनेसे तो और भी अबुद्धिगम्य हो जाती है। (३) यह व्याख्या इस बातका उदाहरण है कि श्रीशङ्कराचार्य कैसे तोड़-मरोड़कर सूत्रोंका अर्थ कर देते हैं (४) जबकि सूत्र इस तथ्यको भारपूर्वक कह रहा है कि सभी श्रुतियाँ—चाहे निर्गुणप्रतिपादिका हों या सगुणप्रतिपादिका—ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं, जिससे किसीको मुख्य और किसीको अमुख्य नहीं माना जा सकता। (५) '**अरूपवत्**' के साथ '**एव**' लगे होनेसे तो इस तथ्यकी और अधिक पुष्टि होती है।

वैसे जहाँ तक श्रीशङ्कराचार्यकी व्याख्याका सवाल है यह कहा जा सकता है कि यदि यहाँ नीरूपताका ही वर्णन अभिप्रेत होता तो '**अरूपम्**' क्यों नहीं कहा गया ? '**अरूपवत्**' कहना ही अशुद्ध प्रयोग हो जायेगा क्योंकि (मतुप्) प्रत्ययका अर्थ कुछ भी नहीं रहता। "**यः सर्वज्ञः सर्ववित्**" (मुण्ड० उप०१।१।९ तथा २।२।७) इत्यादि गुणधर्मप्रतिपादक श्रुतियोंको यह किस आधार पर कहा जा सकता है कि वे ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं करतीं और यदि करती हैं तो स्वतःप्रमाण होनेके कारण और ब्रह्मके प्रत्यक्ष, अनुमान या युक्ति से सिद्ध न किये जा सकने अर्थात् शब्दैकगम्य होनेके कारण विरोधकी शङ्का कैसे उठ सकती है ? प्रमाणसे सिद्ध अर्थका बाध होनेपर तो निर्गुण ब्रह्म भी प्रतिपादित नहीं किया जा सकता क्योंकि उपासना जैसे सगुणके रूपमें होती है वैसे ही यह भी तो सम्भव है कि निर्गुणके रूपमें उपासना करनेकेलिए निर्गुणके रूपमें ब्रह्मका प्रतिपादन हो। श्रीवल्लभाचार्यकी इस युक्तिका कोई उत्तर नहीं दिया गया है कि यदि सगुण ब्रह्मका प्रतिपादन करने वाली श्रुतियोंको प्रमाण नहीं माना गया तो वेदके एक अंशमें अप्रमाणता आयेगी और यदि उन श्रुतियोंको प्रमाण मान लिया जायेगा तो ब्रह्मको उभयविध मानना ही पड़ेगा, क्योंकि ब्रह्म अन्य प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, जिसके आधारपर दोनों श्रुतियोंमें विरोध माना जाये। स्वयं श्रुतियोंके आधारपर सांख्य मतका खण्डन करने वाले

श्रीशङ्कराचार्य भी इससे कैसे इन्कार कर सकते हैं कि "**यथाशब्दमिह भवितव्यम्**" (ब्रह्मसूत्रशङ्करभाष्य १।४।७) । लेखिकाको ज्ञात न हो तो बता दें कि यह '**यथाशब्दमिह भवितव्यम्**' श्रीशङ्कराचार्य उस सन्दर्भमें कह रहे हैं जहाँ उनके मतमें युक्तिविरोध दिखलाया जा रहा है और उनका जवाब यह है कि युक्तिके अनुसार यहाँ विचार नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म शब्दसे सिद्ध हुआ है युक्तिसे नहीं, अतः जैसे शब्द कहता है वैसे मानना पड़ेगा (यदि शब्द लोकदृष्टया विरोधी गुणों या धर्मों के ब्रह्ममें होनेका प्रतिपादन करता है तो वह भी मानना ही पड़ेगा, अन्यथा सांख्य क्यों चुप होगा ?), और लेखिका इसे 'unacceptable' (अस्वीकार्य) समझती हों तो समझें, 'rationalist' (बुद्धिवादी) श्रीशङ्कराचार्य और 'theologist' (देवशास्त्रवादी) श्रीवल्लभाचार्य इस विषयमें एकमत हैं और कहीं दोनों अपना मतभेद भुला कर लेखिकाको ही अपना 'chief antagonist' (प्रधानमल्ल या प्रमुख प्रतिपक्षी) न समझें ।

इस सन्दर्भमें लेखिकाने पृष्ठ एक-सौ-इकतीस पर इस खुलासाका उल्लेख किया है कि "**अरूपवदेव........**" (ब्रह्मसूत्र ३।२।१४) सूत्रमें सूत्रकारके '**अरूपम्**' न कह कर '**अरूपवत्**' कहने का तात्पर्य यह है कि वे इस सन्देहको दूर करना चाहते हैं कि जड़ वस्तुके धर्म और जीवके धर्म ब्रह्ममें हैं या नहीं और इसी विचारको कहनेके लिए यह सूत्र लिखा गया है न कि ब्रह्मके असाधारण धर्मोंका विचार करनेके अभिप्रायसे । अतः जड़ और जीवरूपी कार्यकी तरह कार्यके धर्म भी तो ब्रह्मरूप हैं तो अन्तर क्या होगा ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि वे ब्रह्मरूप ही हैं ब्रह्म के नित्य-आविर्भूत असाधारण धर्म नहीं ।

लेखिकाने न जाने किस धुनमें लिख दिया है कि यह खुलासा इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि श्रीवल्लभाचार्य स्वयं यह अनुभव कर रहे हैं कि उनका अर्थ खींच-तान कर निकाला गया है । यह भी पहलेकी तरह केवल प्रतिज्ञा है और ऐसी प्रतिज्ञा हम भी कर सकते हैं कि लेखिकाने जो यह टिप्पणी दी है उससे स्पष्ट अवभास हो रहा है कि लेखिकाको समझे-विना-समझे जो कुछ मनमें आये लिख देनेकी आदत है ।

वैसे लेखिकाकी जानकारीकेलिए यह स्वल्पसूचना आवश्यक है कि अणुभाष्यके अनुसार "**अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्**" (ब्रह्मसूत्र ३।२।१४) सिद्धान्तसूत्र नहीं है ।

'**अरूपवदेव हि**' (ब्रह्मसूत्र ३।२।१४) इत्यादि सूत्रके घटक '**अरूपवत्**' पदको '**मतुप्**' प्रत्ययसे बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि '**अरूपम्**' से वह प्रयोग शुद्ध कहलायेगा । वैसे यह शब्द '**वति**' प्रत्यय लगाकर भी सिद्ध हो सकता है और तब इसका अर्थ होगा '**अरूप जैसा ।**' इसमें भी न कोई व्याकरणका दोष है और न युक्तिका दोष । ऐसी स्थितिमें लेखिकाने '**अरूपवदेव**' का वही अर्थ स्वयंसिद्ध कैसे मान लिया जो श्रीशङ्कराचार्य करते हैं । न केवल इतना ही किन्तु 'अरूपवत्' का जो अर्थ विद्वन्मण्डनकार करते हैं

वह अर्थ (अर्थात् ब्रह्म रूपवत् नहीं है किन्तु रूप-रूप ही है) करनेमे निषेध तथा एवकार दोनों और अधिक सङ्गत हो जाते हैं।

इसके अलावा "**अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्**" (ब्रह्मसूत्र ३।२।१४) के वाल्लभ अर्थमें '**ब्रह्म जगद्विलक्षणं ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकवाक्यप्रधानत्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं यथा जगत्**' यों स्पष्टतः अनुमानाकार विना किसी अध्याहार या तोड़-मरोड़ के बनता है; वाक्यका आन्तरिक गठन भी पूर्ण एवं युक्तियुक्त है जब कि शाङ्कर अर्थमें "**ब्रह्म रूपरहितं निर्विशेषवेदान्तवाक्यानां ब्रह्मप्रधानत्वात्**" इस प्रकार '**निर्विशेषवेदान्तवाक्यानां**' इस पदका अध्याहार करनेपर ही अर्थ स्पष्ट होता है। और अध्याहार करनेपर भी, जैसा कि कहा जाता है '**भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः।**' यों कोई विनिगमना तो है ही नहीं कि निर्विशेषप्रतिपादक वाक्योंको ही क्यों ब्रह्मप्रधान माना जाये और सविशेषप्रतिपादक वाक्योंको क्यों नहीं ? यदि यह कहें कि किये गये विचारसे इस सिद्धान्तके सिद्ध हो जानेसे यह प्रश्न ही नहीं उठता तो भी आखिर जब निर्विशेष वाक्य ही ब्रह्मप्रधान हैं और सविशेष वाक्य अब्रह्मप्रधान हैं तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि ब्रह्म सविशेष है या निर्विशेष।

खैर, लेखिकाको तो हेतुकी आकाङ्क्षा ही नहीं है क्योंकि उनका काम तो प्रतिज्ञामात्रसे चल जाता है। वे यहाँ तुरन्त कह देंगी कि ये सब युक्तियाँ dogmatic (रूढिवादी) है यह approach irrational (दृष्टि अविचारपूर्ण) है, इसमें scholarly mind (विद्वद् बुद्धि) को appeal (अपील) करने की ताक़त नहीं है और इनमें inner consistency (आन्तरिक सङ्गति) नहीं है; किन्तु बुद्धिमानोंको इतनेसे ही समझमें आ जायेगा कि इन प्रतिज्ञाओंका अर्थ यही है कि लेखिका को शाङ्करमतमें विशेष श्रद्धा है।

"**मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्**" (ब्रह्मसूत्र ३।२।३) इस सूत्रके वाल्लभ भाष्य पर लेखिकाकी रिसर्च है कि श्रीवल्लभाचार्य यहाँ जगत्‌की सत्यताको स्थिर रखनेकेलिए सावधानतया सङ्घर्ष कर रहे हैं। कुछ ऐसा भी ध्वनित होता है कि लेखिकाके अनुसार यहाँ श्रीवल्लभाचार्यको यह सङ्घर्ष नहीं करना चाहिये था क्यों कि श्रीशङ्कराचार्यने नहीं किया है। सम्भवतः इस तथाकथित सङ्घर्षकेलिए उपयुक्त अवसर नहीं है। परन्तु हमें तो यहाँ श्रीवल्लभाचार्यके बजाय लेखिका ही कुछ नये contribution (योगदान) अथवा research (अनुसन्धान) केलिए सावधानतया सङ्घर्ष करती प्रतीत होती हैं।

क्योंकि वस्तुस्थिति यह है कि पूर्वपक्षके दो सूत्रोंमें स्वप्नकी सत्यता कही गयी है और उनमें हेतुके रूपमें यह कहा गया है कि "स्वप्नमें सृष्टि कही जाती है" इत्यादि। अब पूर्व पक्षका निगम ही तो सिद्धान्त का कर्त्तव्य है, अतः सिद्धान्त सूत्रमें स्वाभाविक रूपसे यहाँ कहा जा रहा है कि श्रुतिमें स्वप्न में 'सृष्टि' कही जाती है, उस सृष्टिकी सत्यता नहीं और इसी युक्तिके समर्थनके लिए व्यतिरेकोदाहरण अपेक्षित था वह यहाँ

महज रूपमें उद्धृत किया गया है। स्पष्टत: यहाँ लक्ष्य जगत्के सत्यत्वका प्रतिपादन करना नहीं प्रत्युत जगत्के और स्वप्नके वैधर्म्यसे स्वप्नका मिथ्यात्व सिद्ध करना ही है। परन्तु यहाँ लेखिकाको जो सङ्घर्ष प्रतीत हो रहा है उसका निगूढ आशय मनोवैज्ञानिक विश्लेषणसे यही प्रतीत होता है कि जाने-अनजाने इस अधिकरणके फलित अर्थकी भयावहता लेखिकाकी आँखोंके सामने ताण्डव नृत्य कर रही है और यह लेखिकाकी शक्तिके बाहर है कि वे इस ताण्डवके दर्शन भी कर पायें ! फलत: खरगोशकी तरह आँखें मींचकर ताण्डवको आँखोंसे ओझल करना चाहती हैं।

आइये हम इस ताण्डवकी अपने युक्तिवाद्योंसे ऐसी सङ्गति करें कि लेखिकाको घोर-ध्वनिसे भयभीत होकर इस क्षेत्रसे पलायन ही करना पड़े !

मूलत: यहाँ लक्ष्य देनेकी बात यह है कि स्वप्न-सृष्टिका मिथ्यात्व अलगसे कहना इस तथ्यका उद्घोष करता है कि जाग्रत् सृष्टि मिथ्या नहीं है जिसे scholarly mind (विद्वद्बुद्धि) से लेखिकाको मिथ्या माननेका आग्रह नहीं भी हो तो रुचि तो अवश्य है अतएव लेखिका जाने-अनजाने श्रीवल्लभाचार्यद्वारा किये जा रहे इस तथाकथित सङ्घर्षकी आशङ्का से त्रस्त हो रही हैं ।

लेखिकाके शब्दोंमें, "Although the word 'Māyā' occurs here (in this Sūtra) for the very first and only time in the whole B. S., yet, the wording of this Sūtra is pretty clear in giving a name, as it were, to the concept of Māyā or Unreality of the world, which is implicitly contained throughout the B. S. (cf. Ch. II). Again, it should not be forgotten that the absence of the word in the rest of the B. S. does not imply the absence of the doctrine itself." (The Phil. of V. p. 322).

ऐसी स्थितिमें यदि यहाँके आधारसे जगत्के मिथ्या होनेकी गन्ध भी आती हो तो श्रीवल्लभाचार्यका यहाँ सत्यत्वको सिद्ध करना सङ्घर्ष नहीं परन्तु अनिवार्य तर्क-प्रवणता है। वैसे तो स्वयं जगत्के मिथ्यात्वका सिद्धान्त इतना शिथिल है कि स्वयं श्रीशङ्कराचार्यको भी इसका खण्डन करना पड़ा और वह भी इतने सुन्दर शब्दोमें अर्थात् इतनी लच्छेदार भाषा में जितनी लच्छेदार भाषामें स्वयं श्रीवल्लभाचार्य भी नहीं कर पाये।

सूत्र है "**वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्**" (ब्रह्मसूत्र २।२।२९) और इसका आशय लेखिकाके इस दु:साहस पूर्ण वक्तव्यसे कि 'Unreality of the world, which is implicitly contained throughout the B.S.'(The Phil. of V. p. 322) ठीक विपरीत है।

जाग्रत्कालीन जगत् मिथ्या नहीं है क्योंकि इसकी और स्वप्न की उस प्रकारकी तुलना नहीं की जा सकती जैसी कि शाङ्करमत में "**प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नवत्**"

इत्यादि कह कर की गयी है ।

मगर यह सब तो हम और सूत्रकार कह रहे हैं, आइये, देखें कि स्वयं श्रीशङ्कराचार्य क्या कहते हैं ।

"यदुक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषादिति तत्प्रतिवक्तव्यम् । अत्रोच्यते, न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति । कस्मात् ? वैधर्म्यात् । वैधर्म्यं हि भवति स्वप्न-जागरितयोः । किं पुनर्वैधर्म्यम् ? बाधाबाधाविति ब्रूमः । बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य, मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति, न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो, निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति । एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः । नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते । अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम् । उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम् । स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगसंप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि, नोपलभे उपलब्धुमिच्छामीति । तत्रैवं सति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धित्वात्स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता । न च स्वानुभवापलापः प्राज्ञमानिभिर्युक्तः कर्तुम् । अपि चानुभवविरोधप्रसङ्गाज्जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरालम्बनतां वक्तुमशक्नुवता स्वप्नप्रत्ययसाधर्म्याद्वक्तुमिष्यते । न च यो यस्य स्वतो धर्मो न सम्भवति सोऽन्यस्य साधर्म्यात्तस्य सम्भविष्यति । न ह्यग्निरुष्णोऽनुभूयमान उदकसाधर्म्याच्छीतो भविष्यति । दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः ।" (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।२।२९) ।

उपर्युक्त सूत्रके भाष्यरूप इस लम्बे उद्धरणसे स्पष्ट है कि (१) श्रीशङ्कराचार्यके मतमें दृश्यमान जगत्का किसी अवस्थामें स्वप्नकी तरह बाध नहीं होता । (२) जाग्रत्-कालीन ज्ञान प्रामाणिक अनुभव है (३) अतः स्वानुभवसिद्ध वैलक्षण्यके आधारपर यह नहीं कहा जा सकता कि स्वप्नकी तरह जाग्रत्कालीन दर्शन भी मिथ्यावस्तुविषयक है । (४) जाग्रदनुभव मिथ्यावस्तुविषयक है यह स्वतःसिद्ध नहीं है और इसीलिए कुसादृश्य (false analogy) से सिद्ध नहीं हो सकता जैसे आग को ठंडा कोई केवल इसी आधारपर नहीं कह सकता कि जलकी तरह अनुभवमें तो वह भी आती ही है । (५) इस तरह स्वप्न एवं जाग्रत्कालीन अनुभवकी विषमता सिद्ध हुई है ।

हम भी यहां लेखिकाके पृष्ठ 322 के, ऊपर पृष्ठ २३ पर उद्धृत शब्दोंमें कह सकते हैं कि, It should not be forgotten that the absence of (this argument) in the rest of B. S. does not imply the absence of the (refutation of the) doctrine (of unreality of the world, implied by the argument given by Ś.[1]).

---

1. कोष्ठान्तर्गत मुद्रित शब्द प्रस्तुत पंक्तियोंके लेखकके हैं ।

दुःखकी बात तो यह है कि यहाँ जगत्की असत्ताका नहीं प्रत्युत मिथ्यात्वका और वह भी स्वप्नसदृशताका खण्डन है और निश्चयेन अतिप्रभावशाली शब्दोंमें, परन्तु वदतो-व्याघातके मूल्यपर । अतएव 'असम्बद्ध विधान मायावादियोंका कुलधर्म है', ऐसा प्राचीन विद्वानोंने कहा है, परन्तु समुचित गम्भीर अध्ययनके अभावमें लेखिकाको शाङ्करदर्शन ही सर्वाधिक सुसम्बद्ध जान पड़ता है, न केवल सुसम्बद्ध प्रत्युत modern और scientific (आधुनिक एवं वैज्ञानिक) भी ! अब क्या कहें, जिन्हें न यह मालूम है कि आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन क्या है और न यह कि प्राचीन शास्त्रीय चिन्तन क्या है वे जब इधर-उधरकी बात करते हैं तो बहुत रोकने पर भी वेदान्तदेशिक याद आ जाते हैं,

स्पर्धन्तां सह जन्मकुञ्जरतया दिक्कुञ्जरैः कुञ्जराः,
ग्राम्या वा वनवासिनो मदजलप्रस्विन्नगण्डस्थलाः ॥
आः कालस्य विपर्ययं शृणु सखे ! प्राचीरपालीमला—
स्वादस्निग्धकपोलभित्तिरधमः कोलोऽपि संस्पर्धते ॥

जहाँ तक जगन्मिथ्यात्वके वैज्ञानिक चिन्तनपर आधारित होनेका प्रश्न है तो मुझे बर्ट्रेण्ड रसेल (Bertrand Russell) के अन्य सन्दर्भमें कहे गये ये शब्द याद आते हैं, "All such philosophies spring from self-importance, and are best corrected by a little astronomy[1]."

शायद अपनी कल्पनाकी तरङ्गको ही लेखिका वैज्ञानिक चिन्तन समझती हैं और इसीके आधारपर शाङ्करमतको भी । यही तो कारण है कि '**तत्त्वमसि**' के ऊपर विचार करते समय लेखिकाको सौगन्ध खानेको एक जगह श्रीवल्लभाचार्यके अर्थको स्वाभाविक कहनेका नाटक रचना पड़ा और वह भी इस छटकबारीके साथ कि श्रीशङ्कराचार्यकी व्याख्याका समर्थन उनके स्वीकृत शन्दर्भमें तो अवश्य किया जा सकता है । अर्थात् लेखिकाकी मौलिक रिसर्च यह है कि श्रीवल्लभाचार्यकी व्याख्याका समर्थन तो श्रीवल्लभा-चार्यके स्वीकृत सन्दर्भमें भी नहीं किया जा सकता है जैसा कि प्रायः अपनाये गये रुखसे प्रतीत होता है । अतएव लेखिकाको यह बात बहुत बुरी लगती है कि किसी भी पदका श्रीवल्लभाचार्य ऐसा अर्थ क्यों करते हैं कि उनके मतमें सङ्गत होता है और शाङ्करमतसे नहीं (The Phil. of V. pp. 329-30) । अतएव लेखिकाकी एक महान् रिसर्च (!) यह भी है कि वाल्लभविचारसरणिमें दार्शनिक जटिलता उतनी नहीं है जितनी कि गहरी धार्मिकता । ठीक ही तो है, 'न बुध्यते इत्यपि बुद्धिसाध्यम् ।' वैसे हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' का सिद्धान्त स्वयं कितना धार्मिक—न केवल सामान्य अर्थमें किन्तु वर्णाश्रमवादपर आधारित धर्मके भी अर्थमें—है । वैसे धर्म–सामान्य

1. What I Believe, p. 44, in 'Why I am not a Christian'.

अर्थोमें—या वर्णाश्रम मे, न तो श्रीशङ्कराचार्य और न श्रीवल्लभाचार्य को ही लेखिकाकी तरह कोई परहेज़ है कि ऐसा कहने पर वे अपने मतमें कोई दोष समझें। वे दोनों ही झटसे कह देंगे '**इष्टापत्तिः**'। जहाँ तक लेखिकाको समझनेमें सिर खुजलाना पड़े ऐसी बात का ही मतलब दार्शनिक जटिलता हो तो सबमे बड़ा दर्शन-सिद्धान्त हम लेखिकाको सुनायेंगे,

जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति भद्रकाणि।
तं ब्राह्मणो पृच्छति पृष्ठतोऽन्ये राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्घः॥

पृष्ठ तीन-सौ-चौबीस पर '**कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः**' (ब्रह्मसूत्र २।३।४२) इस सूत्रके बारेमें लेखिकाका कहना है कि यहाँ श्रीवल्लभाचार्य मानवीय प्रयत्नोंके मूल्यको अस्वीकार करनेसे उठती समस्याका जोड़-तोड़ बैठानेका प्रयत्न कर रहे हैं और यह वे मानवीय पहलूका ईश्वरीय सर्वशक्तिमत्ताकी बलिवेदीपर बलिदान देकर भी करनेको तैयार हैं! विशेषतः प्रभुचरण गुसाईंजीने तो यथार्थतः बलिदान कर ही दिखाया है, क्योंकि उनके अनुसार यह सूत्र "**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**" (ब्रह्मसूत्र २।१।३३) के सन्दर्भका सूचन करता है। उनके अनुसार यहाँ जीवप्रयत्नका कोई प्रश्न नहीं उठता है।

हम जो यह कहते हैं कि लेखिकाको शाङ्करदर्शनपर अनुराग है उसका गम्भीर अध्ययन नहीं वह इस सन्दर्भमें एकदम स्पष्ट हो जाता है। लेखिकाने जो आरोप वाल्लभ व्याख्यापर किये हैं वे शाङ्करव्याख्यापर भी ज्यों-के-त्यों किये जा सकते हैं, प्रत्युत इस अंशमें लेखिका श्रीवल्लभाचार्यका खण्डन न कर श्रीशङ्कराचार्यका ही खण्डन कर रही हैं और वह भी इस दुराशासे कि शाङ्करमत वाल्लभमतालोचनसे कुछ बद्धमूल होगा।

यदि लेखिकाने गीता और ब्रह्मसूत्रका शाङ्करभाष्य विचारपूर्वक पढ़ा होता तो उन्हें ज्ञात होता कि उनके खण्डनीय अंशपर तो श्रीवल्लभाचार्य और श्रीशङ्कराचार्य एकमत हैं। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं,

"यदिदमविद्यावस्थायामुपाधिनिबन्धनं कर्तृत्वं जीवस्याभिहितं, तत्किमनपेक्ष्येश्वरं भवत्याहोस्विदीश्वरापेक्षमिति भवति विचारणा। तत्र प्राप्तं तावन्नेश्वरमपेक्षते जीवः कर्तृत्व इति। कस्मात्? अपेक्षाप्रयोजनाभावात्।....एतां प्राप्तिं तुशब्देन व्यावर्त्य प्रतिजानीते, 'परात्' इति। अविद्यावस्थायां कार्यकरणसङ्घाताविवेकदर्शिनो जीवस्याविद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्मादात्मनः कर्माध्यक्षात्सर्वभूताधिवासात्साक्षिणश्चेतयितुरीश्वरात्तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः, तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति। कुतः? तच्छ्रुतेः। यद्यपि दोषप्रयुक्तः सामग्रीसम्पन्नश्च जीवः, यद्यपि च लोके कृष्यादिषु कर्मसु नेश्वरकारणत्वं प्रसिद्धम्, तथापि सर्वास्वेव प्रवृत्तिष्वीश्वरो हेतुकर्तेति श्रुतेरवसीयते। तथाहि श्रुतिर्भवति, '**एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते**' (कौषी० उप० ३।८)

इति। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' (शतपथब्रा० १४।५।३०) इति चैवंजातीयका।'' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।३।४१)।

स्पष्टतः यहाँ कारयिता ईश्वर ही है यद्यपि इसके बादवाले सूत्रके भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्य यह कहते हैं कि ईश्वरका कारयितृत्व जीवकृत धर्माधर्मापेक्ष है; परन्तु उस धर्माधर्ममें भी तो ईश्वरका ही कारयितृत्व है। और अन्ततः अनादिकालसे ईश्वर जीवकृत धर्माधर्मकी अपेक्षा रखकर ही कारयिता बनता है तावता वैषम्य, नैर्घृण्य और अकृताभ्यागम नहीं होगा, पर अनादि कारयिता ईश्वर ही है और अनादिकालसे दण्डयिता भी, ऐसी स्थितिमें जहाँ तक मानवीय मूल्योंका प्रश्न है मूलतः क्या अन्तर रह जाता है ? न केवल इतना ही किन्तु जब लेखिका वाल्लभसिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए कहती हैं कि, 'The high and low creation based on difference and gradation is rooted in His desire to sport.' (The Phil. of V. p. 324), तो मुझे उनका यह कथन श्रीशङ्कराचार्यकी गीताभाष्यमें आयी इन पंक्तियोंका अनुवाद प्रतीत होता है, ''**द्वौ द्विसङ्ख्याकौ भूतसर्गौ भूतानां मनुष्याणां सर्गौ सृष्टी भूतसर्गौ सृज्येते इति सर्गौ भूतानि एव सृज्यमानानि दैवासुरसम्पद्युक्तानि द्वौ भूतसर्गौ इति उच्येते। 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च'** (बृह० उप० १।३।१) इति श्रुतेः।'' (गीता, शाङ्करभाष्य १६।६)।

और इसी सन्दर्भमें व्याख्या करते हुए अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती गूढार्थदीपिकाटीकामें कहते हैं, '**एवञ्च पापकर्माण्येव तेषां कारयति भगवान् तेषु तद्बीजसत्त्वात्। कारुणिकत्वेऽपि तानि न नाशयति तन्नाशकपुण्योपचयाभावात्। पुण्योपचयं न कारयति तेषामयोग्यत्वात्। न हीश्वरः पाषाणेषु यवाङ्कुरान् करोति। ईश्वरत्वादयोग्यस्यापि योग्यतां सम्पादयितुं शक्नोति इति चेत्, शक्नोत्येव सत्यसङ्कल्पत्वाद् यदि सङ्कल्पयेन्न तु सङ्कल्पयति।**' (गूढार्थदी० १६।१९)। लेखिकाको inner consistency (आन्तरिक सङ्गति या परस्परसंवादिता) का बहुत आग्रह है फिर क्या बात है कि प्रभुचरण गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथने जब ईश्वरको सर्वसमर्थ और सर्वकारयिता माननेपर आते हुए निष्कर्षोंपर शाङ्करमतका ध्यान आकृष्ट किया तो उनका अभिनन्दन करनेके बजाय लेखिकाने अपने पूर्वाग्रह और रुचि की बलिवेदीपर प्रामाणिकताका बलिदान कर दिया।

प्रभुचरणकी विद्वन्मण्डनकी युक्तिका सार तो यही है कि, जब प्रपञ्च ब्रह्मका लीलाविलास है, ब्रह्म सर्वसमर्थ, सत्यसङ्कल्प और सर्वकारयिता है, सदसत् कर्मका निर्धारण वैदिक विधिनिषेध से होता है और जीवमें देवासुरविभाग सिद्ध है तो ब्रह्मको फल-दानमें जीवकृत धर्माधर्मकी अपेक्षा भी क्यों होगी ? यदि यह कहें कि वैषम्य, नैर्घृण्य और अकृताभ्यागम दोषके परिहारकेलिए, तो वह तो '**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**' (ब्रह्मसूत्र-२।१।३३) से ही समाहित हो जाता है। यहाँ आधारभूत वाक्योंमें ऐसा कौन सा सिद्धान्त

हैं जो श्रीशङ्कराचार्यको अभिप्रेत नहीं ? अन्तर केवल इतना होगा कि वे समग्र द्वैत-प्रपञ्चको मिथ्या माननेके कारण इस ईश्वर और उसके सामर्थ्य को भी मिथ्या मानते हैं, किन्तु इससे व्यवहारमें क्या फ़र्क पड़ेगा ? श्रीवल्लभाचार्यकी यह व्यवस्था व्यवहार में श्रीशङ्कराचार्यको भी थोड़े-बहुत मतान्तरसे स्वीकार्य ही है। यह हम ऊपर दिये गये उद्धरणों से सिद्ध कर चुके हैं। इतनेसे सन्तोष न होता हो तो गम्भीर रूपसे शाङ्करमतका अध्ययन करना ही सन्तोषका उपाय है।

लेखिकाको भ्रान्ति है कि यह स्थिति कर्मवादके विरुद्ध है और श्रीवल्लभाचार्य पुनर्जन्मको माननेके कारण कर्मवादको माननेसे इन्कार नहीं कर सकते (पृष्ठ ३२४)। परन्तु लेखिकासे पूछा जा सकता है कि अन्यथा '**एष ह्येव साधु कर्म कारयति**' (कौषी० उप० ३।८) का क्या अर्थ होगा ? प्रभुचरण या श्रीवल्लभाचार्य या किसी भी प्राचीन वेदान्ती को रिसर्च तो करनी नहीं है। उनका स्वीकृत क्षितिज वेदान्तवचन ही है। ऐसी स्थितिमें वे मूलपर कुठाराघात कैसे कर सकते थे कि भविष्यमें कोई ऐसा भी पी-एच्० डी० होगा जो ईश्वर को माने, उसकी सर्वशक्तिमत्ता को माने परन्तु मानवीय पहलूके मूल्यका भक्त होनेके कारण ईश्वरका कारयितृत्व न माने ! उन्हें प्रमाणसे प्रमेयको सिद्ध करनेकी चिन्ता थी, मानवीय मूल्यकी नहीं। मानवीय-मूल्य मानव अपने आपकी महत्ता से गढ़ता है और उस महत्ताको नये ज्योतिर्विज्ञानने आज नहीं वर्षों पहले जर्जरित कर दिया है, यह वैज्ञानिक चिन्तकोंका अभिप्राय है। प्राचीन चिन्तकोंकी मर्यादा प्रमाण थी। उन्होंने "**मानाधीना मेयसिद्धिः मानसिद्धिश्च लक्षणात्**" के मौलिक आधार पर अपने-अपने सिद्धान्त गढ़े। अब आज यदि किसीको मानवीय मूल्यकी चिन्ता सताती हो तो इस आधारपर वह उन मतोंको अनुसरणीय अथवा अननुसरणीय तो मान सकता है पर विरोधी प्रमाण दिये विना आलोचन नहीं कर सकता, और स्पष्टतः श्रीशङ्कराचार्यसे लेकर श्रीवल्लभाचार्यतक आचार्योंके मतको केवल युक्तिके आधारपर नहीं तोड़ा जा सकता, जब तक यह न सिद्ध हो जाये कि ब्रह्म या ईश्वर और उससे सम्बन्धित सारी बातें युक्तिसे भी सिद्ध होती हैं।

वेदान्तसम्मत ईश्वरका या तो खण्डन करना चाहिये या फिर वाल्लभमतकी व्याख्या स्वीकार करनी चाहिये ऐसा हम सगर्व कह सकते हैं, अन्यथा अर्धजरतीय न्याय ही होगा। Marquis de Sade ने 'The Dying Man and Priest' में एक जगह एक मुमूर्षु पात्रसे कहलवाया है कि "आखिर जब वह ईश्वर सर्वसमर्थ है और यदि वस्तुतः वह मुझसे सत्कर्मकी अपेक्षा रखता है और सर्वज्ञ होनेके कारण यह भी जानता है कि स्वतन्त्र होकर अपनी निर्बलतावश मैं कौनसा मार्ग चुनूँगा तो उसने मुझे ऐसा ही क्यों नहीं बनाया कि मैं सत्कर्मनिष्ठ होता ?" लेखिका इस युक्तिका उत्तर देना चाहें तो पहले उक्त कहानीको पढ़ लें, तो शायद उन्हें यह अनुभव हो जायेगा कि इस विषय

में युक्ति, वैज्ञानिक चिन्तन और वाल्लभमतके न सही शाङ्करमतके ईश्वरमें विश्वास आदिका मिश्रण कैसे बन सकता है।

वैसे ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी दर्शनोंके बीच यह आलोचना और प्रत्यालोचना कुछ नयी नहीं है। यूनानके पुराने दार्शनिक एपीकुरसने लेखिकासे कहीं ज्यादा अच्छी युक्ति दी है। वह कहता है, "Is god willing to prevent evil, but not able? Then he is not omnipotent. Is he able, but not willing? Then he is malevolent. Is he both able and willing? Then whence evil[1]?"

अर्थात् ईश्वर असत्का निरोध करना चाहता है किन्तु कर नहीं पाता तो वह सर्वसमर्थ नहीं है। यदि करनेमें समर्थ होनेपर भी करता नहीं तो वह स्वयं क्रूर है। और यदि वह असत्के निरोधमें समर्थ भी है और उसे चाहता भी है तो फिर यह असत् कहाँसे पैदा होता है ?

परन्तु एपीकुरसकी इस युक्तिका श्रीवल्लभाचार्यसे उत्तर पूछनेके पहले यदि श्रीशङ्कराचार्यसे पूछ लें तो क्या हाल होगा, इस बारेमें मेरी कल्पना यों हैं। प्रखर ज्ञान-मार्तण्ड श्रीशङ्कराचार्य युक्तिके ऊपर विकल्पका जाल बुनते कि इस युक्तिसे आप क्या सिद्ध करना चाहते हैं ? क्या यह कि (१) ईश्वर नहीं है ? अर्थात् सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् दयालु परमेश्वर नहीं है ? अथवा यह कि (२) परमेश्वर तो है परन्तु साथ-साथ यह बात भी समझमें नहीं आती कि एपीकुरसके प्रश्नोंका उत्तर क्या हो ? श्रीशङ्कराचार्य प्रथम कल्पको यों कह कर उड़ा देते कि ईश्वर है नहीं यह बात वेदान्तमें नहीं पूछी जाती। वेदान्त तो वेद, ईश्वर आदि सभीमें आस्था रखने वालोंकेलिए ही है, क्योंकि श्रुति कहती है कि ज्ञान स्वतन्त्र रूपमें नहीं किन्तु वेदान्तके श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा ही प्राप्त करना चाहिये, **'तस्माद् यथाशास्त्रोपदेश एवात्मावबोधविधिर्नान्यः न ह्यग्नेर्दाह्यं तृणाद्यन्येन केनचिद्दग्धुं शक्यम्'** (ऐत० उप० शाङ्करभाष्य २।१।१) अतः जिन्हें नित्यानित्यवस्तुविवेक है, इहामुत्रार्थफलभोगविराग है, मोक्ष पानेकी इच्छा है, उनके मननकेलिए ही वेदान्त रचा गया है और इस बीचमें यह अनीश्वरवादी शङ्का कैसी ? परन्तु फिर भी कुछ युक्तिका उत्तर अपेक्षित हो तो ब्रह्मकी तरह ईश्वर भी शब्दैकगम्य है। अतः क्योंकि शब्द कहता है तो ईश्वर भी है ही। रही यौक्तिक विरोध की बात, तो वे कहेंगे, **"आम्नातस्यार्थं प्रतिपत्तुं प्रभवामः, नाम्नातं पर्यनुयोक्तुम्"** (ब्रह्म-सूत्र शाङ्करभाष्य १।४।३)। वेदार्थ 'क्या है' यह समझा जा सकता है। 'क्यों है,' यह पूछा नहीं जा सकता। रहा दूसरा कल्प, तो मुझसे क्या पूछते हो पूछो ब्रह्मसूत्रकर्त्ता व्याससे, इसका तो उत्तर मेरे पहले उन्होंने ही दे दिया होगा। यदि लेखिका एपीकुरसको

1. An Introduction to Philosophical Analysis by John Hospers, p.461.

व्यासके पास ले जाती तो वेदव्यास तो सभी वेदवचनोंको जानते ही थे, अतः ज़ोरसे सस्वर श्रुतिपाठ करते कि '**एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यः**.....' (कौषी० उप० ३।८)। अब भला एपीकुरस यूनानका बड़ा दार्शनिक होने पर भी यह उपनिषद्की संस्कृतमें कही गयी बात कहाँसे समझता ! बिचारा, 'भाषाभेद दार्शनिक विचारमें बड़ी भारी बाधा है' यह सोचकर झगड़ामें पड़े बिना पुनः यूनान लौट जाता। परन्तु लेखिका तो संस्कृत जानती है अतः कोई तकलीफ़ नहीं। हाँ, श्रीवल्लभाचार्य अवश्य इस घटनासे प्रसन्न होकर कहते कि मायावादके प्रश्नपर भले मतभेद हो परन्तु श्रीशङ्कराचार्यने इस अनीश्वरवादकी ओर ले जाती व्यर्थकी युक्तिका चलो अच्छा सफ़ाया कर दिया, नहीं तो कहीं पुनः '**पत्रावलम्बन**' लिखना पड़ता कि मुझसे विचार करने आनेके पहले किन-किन बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है। लेखिका श्रीवल्लभाचार्यको यह तो नहीं कह सकतीं कि "आप मत बोलो, श्रीशङ्कराचार्यकी बात कुछ और है क्योंकि उनके मतमें ईश्वर मिथ्या है," क्योंकि श्रीशङ्कराचार्य स्वयं लेखिकाको समझा देंगे कि बहन जल्दबाज़ी मत करो, "ईश्वर मिथ्या है" का मतलब यह तो नहीं है कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं दयालु नहीं है और न ये मतलब है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, दयालु ईश्वर है ही नहीं। मिथ्याका मतलब तो यह है कि जबतक दुनिया है दयालु सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है ही, किन्तु जब ब्रह्मज्ञान होगा तो उसका भी बाध हो जायेगा। 'है ही नहीं' यह मेरा दर्शन तो नहीं है फिर क्यों श्रीवल्लभाचार्यसे व्यर्थ विवाद करती हो ? और यहाँ वस्तुतः हम भी स्वीकार करते कि श्रीशङ्कराचार्य सचमुच प्रखर ज्ञानमार्तण्ड हैं। पृष्ठ ३२५ पर जहाँ तक ब्रह्मकी स्वतन्त्रताको सुरक्षित रखनेके प्रयत्नका समझमें आते हुए भी लेखिकाको स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है तो हम पूछते हैं कि लेखिका वेदान्तप्रमाणोंके आधार पर ईश्वरकी सत्ता मानती हैं या नहीं ? यदि मानती हैं तो इसे स्वतन्त्र मानती हैं या नहीं ? यदि मानती हैं तो (क्योंकि श्रीशङ्कराचार्य भी मानते हैं इसलिए) यह प्रश्न स्वतः ही उठ सकता है कि ऐसे ईश्वरको कृतप्रयत्नापेक्ष होनेकी क्या आवश्यकता है, जबकि "**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**' (ब्रह्मसूत्र २।१।३३) के अपने भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्य स्वयं कहते हैं,

"**यथा चोछ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसन्धाय बाह्यं किंचित्प्रयोजनं स्वभावादेव सम्भवन्ति, एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किंचित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। न हीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा सम्भवति। न च स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते।.........तथापि नैवात्र किंचित्प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते; आप्तकामश्रुतेः।**" (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।१।३३)। अर्थात् सम्पूर्ण प्रपञ्च लीलाविलास है तो कृतप्रयत्नापेक्षता कैसी ? यदि कहें कि वैषम्य इत्यादि दोषोंके परिहारकेलिए, तो श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार स्वयं लीलाके आधारपर ही इन दोषोंको हटाया जा

सकता है। यदि मानवीय मूल्योंका प्रश्न हो तो स्पष्टतः यह दर्शन कोई मानवीय मूल्योंके सिद्धान्तके आधारपर तो रचा नहीं गया है, अन्यथा "अनादि कारयितृत्व" ही मानवीय मूल्योंकी कहाँ रक्षा करता है? जगत्, उसमें होती मानवीय क्रिया, मानवकर्ताके कर्तृत्व आदि सभीको मिथ्या माननेके बाद, वैसे, कौनसा मानवीय मूल्य बच जाता है, यह एक महान् प्रश्न है!

पृष्ठ तीन-सौ-पच्चीसपर लेखिका कहती हैं कि निरङ्कुश भगवदिच्छापर ही सब निर्भर हो तो सदसत् पक्षमें एक तरफ़के चयनका प्रश्न अर्थहीन हो जाता है। और यों कर्म और कर्मफल मानवीय प्रयत्नके बाहरकी वस्तु हो जाती है। हम कहते हैं हो जाती हो! क्या शङ्कराचार्यके मतमें नहीं होती? जबकि उनके मतमें भी दैवासुरजीवविभाग, ईश्वरका सर्वकारयितृत्व और जगत्की सृष्टि निष्प्रयोजन लीलामात्र है।

लेखिका पृष्ठ तीन-सौ-छब्बीस पर किये गये अपने इन प्रश्नोंका कि कौन दैवी सृष्टिमें हैं और कौन आसुरीमें? कौन पुष्टिमार्गीय है और कौन मर्यादामार्गीय? उत्तर गीतामें दैवासुरसंपद्विभागमें श्रीवल्लभकृत और श्रीपुरुषोत्तमकृत या दोनों टीकाओंमें खोजें और न खोजना हो तो यह प्रश्न श्रीशङ्कराचार्यके सामने भी उपस्थित करें। लेखिकाकी जानकारीकेलिए उन्होंने भी इसका खुलासा कर दिया है। इसके अलावा तत्त्वदीप-निबन्ध तथा षोडशग्रन्थ में भी इसका खुलासा दिया ही गया है।

श्रीवल्लभाचार्यने अनेकत्र प्रमाणसामर्थ्य और प्रमेयसामर्थ्य का प्रभेद लिखा है, उसे यदि लेखिकाने समझा होता तो ऐसे व्यर्थके प्रश्नोंको इतना महत्त्व न दिया होता। जैसे शाङ्करमतमें व्यावहारिक और पारमार्थिक अवस्थाके अन्तरके आधारपर एक साथ, "**न शूद्रस्याधिकारः; वेदाध्ययनाभावात्। अधीतवेदो हि विदितवेदार्थो वेदार्थेष्वधिक्रियते। न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति; उपनयनपूर्वकत्वाद्वेदाध्ययनस्य। उपनयनस्य च वर्णत्रय-विषयत्वात्।**" (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य १।३।३४) भी कहा जाता है और '**न वर्णाः न वर्णाश्रमाचारधर्माः**' भी कहा जाता है वैसे ही यहाँ भी प्रमेयसामर्थ्यसे कुछ और स्थिति है और प्रमाणमर्यादा कुछ और। पर उन्हें कहाँ तक समझायें जो वाल्लभ दर्शनकी इतनी सामान्य बात भी न जानती हों और उसी पर पी-एच्.डी. हो जायें और यथाकथञ्चित् विधान करें कि यह पहलू धार्मिक दृष्टिसे बहुत ऊँचा है किन्तु इसमें दार्शनिक मूल्यकी विकृति हुई है। उसी प्रश्नको पुनःपुनः पूछते हुए भी सङ्कोच होता है कि शाङ्करमत पर यह आपत्ति क्यों नहीं? धर्म क्या है? दर्शन क्या है? विचारके क्षेत्रमें हमारा स्वीकृत क्षितिज क्या है?

लेखिकाने आश्चर्य व्यक्त किया है कि, '**यत्र फलस्य भगवत आप्तौ सर्वसाधनाभावो हेतुः·········यतः साधनसम्पन्नेष्वपि न तत्फलं यदत्यन्तायोग्येषु पुलिन्द्यादिषु दीयते**' (**प्रमेयरत्नार्णव, पृष्ठ ९४, ९९-१००**) अर्थात् "and,—we are told—even the

best of means may not probuce any fruit, while the absence of means may lead one to the Supreme Fruit !" (The Phil. of V.p.326). समझमें नहीं आता कि लेखिकाको संस्कृत भाषा नहीं आती या अभिसन्धिपूर्वक यह दुष्ट अनुवाद किया जा रहा है। (१) सर्वप्रथम यह 'प्रमाणमर्यादा' का प्रश्न ही नहीं है। (२) यहाँ भगवत्प्राप्तिमें साधनाभावको हेतु कहा जा रहा है। (३) **'यतः साधनसम्पन्नेष्वपि न तत्फलम्'** में **'तत् फलम्'** का अर्थ 'भगवत्प्राप्ति' है न कि '(even the best of means may not produce) any fruit'. और इसीलिए इस सन्दर्भमें **'यदत्यन्तायोग्येष्वपि पुलिन्द्यादिषु दीयते'** का अर्थ है कि प्रमेयसामर्थ्यसे भगवत्प्राप्ति अयोग्योंको भी हो सकती है, उसे केवल 'while the absence of means may lead one to the' के विकृत सन्दर्भमें 'Supreme Fruit' कह कर मज़ाक उड़ानेका क्या तात्पर्य है ? जबकि यहाँ स्पष्टरूपसे **'दीयते'** और **'अत्यन्तायोग्येषु'** में सप्तमी विभक्तिके प्रयोगसे प्रमेयसामर्थ्यका द्योतन हो रहा है और वह भी भगवत्प्राप्तिके बारेमें, न कि जिस-किसी साधन और जिस-किसी फलके बारेमें। प्रमाणमर्यादा उत्सर्ग है और प्रमेयसामर्थ्य अपवाद, इस आधारभूत सैद्धान्तिक रहस्यको समझे विना मज़ाक उड़ाना विकृत मनोवृत्तिका लक्षण है।

पृष्ठ तीन-सौ-छब्बीस पर लेखिकाने **"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः"** (ब्रह्मसूत्र २।१।१४) पर क़लम उठायी है। स्पष्ट ही लेखिकाके जैसे इस विषय पर कम अध्ययन किये हुए लोगोंके लिए यह विचार करना केवल एक दुःसाहस है। विचारकोंने इस विषय पर कितना गम्भीर विचार किया है यदि उन विचारोंको लेखिका समझ भर जायें तो उन्हें अपने आपको धन्य मानना चाहिये, जबकि इसके विपरीत वे स्वयं युक्तायुक्तका विचार करनेका स्वांग करती हैं।

लेखिकाका कहना है कि उक्त सूत्रमें **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** (छान्दो० उप० ६।१।४) इस श्रुतिका विचार है अतः यह ठीक होगा कि यह विचार छान्दोग्योपनिषत्के इस वाक्यवाले प्रकरण पर देखा जाये। यह तो ठीक ही है पर आगे लेखिकाने छान्दोग्य पर जो विचार किया है वह उनके अज्ञानका स्पष्ट प्रकाशन है। इस प्रकरण पर पहले हमें उपनिषद्के मूल सन्दर्भ और वचनोंको उद्धृत कर देना चाहिये।

'आरुणिने श्वेतकेतुसे पूछा कि क्या तुम जानते हो कि अश्रुत, अविचारित और अनिश्चित बात भी किसी एक बातके सुन लेनेसे श्रुत, विचारित और निश्चित हो जाती है, जैसे एक मृत्पिण्ड या सोने या लोहे के जाननेसे सारी मृण्मय, सुवर्णमय, या लौहमय वस्तुयें जानी जा सकती हैं, क्योंकि वाचारम्भण विकार नाम है और मृत्तिका, सुवर्ण या लोह यही सत्य है। श्वेतकेतुने ऐसी बात गुरुसे नहीं सीखी थी, अतः आरुणिने बताना

शुरू किया ।' यह सन्दर्भ है और यहाँ जो रहस्य समझाया गया है वह यों है ।

पहले यह सत्य ही था एक और द्वितीयरहित । कुछ लोग कहते हैं यह असत् ही एक और द्वितीयरहित था और उस असत्से सत् हो गया । किन्तु ऐसा कैसे हो सकता है कि असत्से सत् हो जाये ? पहले यह सत् ही तो था एक और अद्वितीय । उस सत् ने यह विचार किया कि बहुतसे रूप ले लूँ और यों उसने तेजकी सृष्टि की । उस तेज ने सोचा कि (मैं भी) बहुतसे रूप ले लूँ और यों उसने जलकी सृष्टि की । इसी तरह अन्न हुआ । फिर उस देवताने विचार किया कि मैं इस जीवात्माके रूपसे इन तीनों देवताओंमें—तेज, जल और अन्न रूपमें—अनुप्रविष्ट होकर नाम और रूप अभिव्यक्त करूँ । उसने तीनों देवताओंको त्रिवृत्-त्रिवृत् कर अनुप्रवेशपूर्वक नामरूपकी अभिव्यक्ति की ।

यहाँ लक्ष्य देनेकी बात है कि (१) तीनों उदाहरण परिणामी-उपादान कारणके हैं विवर्तोपादान कारणके नहीं । यह उदाहरण मिट्टी, सोना और लोहा और उनसे बनने वाली विविध वस्तुयें हैं, मायावादियोंके यहाँ उदाहरणके रूपमें दी गयी शुक्तिरजत, रज्जुसर्प या मरुमरीचिका नहीं । परिणामी-उपादान और कार्य में सत्ताभेद स्वयं अद्वैती अङ्गीकार नहीं करता तो उपाय क्या ! इस सन्दर्भमें सिद्धान्तलेशसंग्रहमें अप्पय दीक्षित कहते हैं ।

वस्तुनस्तत्समसत्ताकोऽन्यथाभावः परिणामः, तदसमसत्ताको विवर्त इति वा; कारणसलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः, तद्विलक्षणो विवर्त इति वा; कारणाभिन्नं कार्यं परिणामः, तदभेदं विनैव तदव्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा विवर्तपरिणामयोर्विवेकः । (सिद्धान्तलेशसंग्रहः १।१६) ।

(२) एकमात्र कारणके ही जान लेनेसे उसके सभी कार्योंका भी ज्ञान हो जाता है । शुक्ति या रज्जु या अन्य भ्रमाधिष्ठानके जाननेसे भ्रमारोपित रजत या सर्प इत्यादि का ज्ञान नहीं होता है । तावता अद्वैत सिद्धान्तमें "**एकविज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति**" की सङ्गति नहीं बैठती ।

(३) "**मृत्तिकेत्येव सत्यम्**" के '**एव**' को लेकर केवल मृत्तिकाको ही सत्य मानकर कार्यरूप घटको मिथ्या माना जाये तो मृत्तिकामें घटका बाध भी मानना पड़ेगा जो स्वयं अद्वैतियोंको स्वीकृत नहीं है, बिना बाध्यत्वके मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता क्योंकि 'प्रतीति और बाध' मिलकर वस्तुका मिथ्यात्व-निर्धारण करते हैं ।

(४) घट मृत्तिकासे अभिन्न है यह अप्पयदीक्षितके लक्षणसे सिद्ध है अतः जब मृत्तिका सत्य है तो घट भी सत्य ही है । घट मृत्तिका नहीं है यह नहीं कहा जा सकता ।

(५) 'वाचारम्भणम्' श्रुति (छान्दो० उप० ६।१।४) में 'वाचारम्भणम्' पदका अर्थ वाणीका आलम्बन तो हो सकता है परन्तु इसका अर्थ 'मिथ्यात्व' करनेके लिए इसमें 'मात्र' पद जोड़ना पड़ेगा अर्थात् इसे **'वाचारम्भणमेव'** इस प्रकार पढ़ना पड़ेगा अन्यथा 'मिथ्यात्व' प्राप्त नहीं होगा। अतएव श्रीशङ्कराचार्यने इसका अर्थ करते समय, **'वागालम्बनमात्रं नामैव केवलं, न विकारो नाम वस्त्वस्ति परमार्थतो मृत्तिकेत्येव मृत्तिकैव तु सत्यं वस्त्वस्ति'** (छान्दो० उप० शाङ्करभाष्य ६।१।४), अर्थात् 'वाणीका आलम्बनमात्र नाम ही केवल है, विकार नामकी परमार्थतः कोई वस्तु नहीं है। मृत्तिका इतना ही तो अर्थात् मृत्तिका ही सत्य वस्तु है।' इत्यादि भाष्यमें स्पष्टतः 'मात्र' और 'तु' पदोंका अध्याहार किया है जब कि वाक्य अध्याहारके विना भी पूर्ण है। और इस अध्याहारके विना 'विकार' का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता। वाक्यको तोड़ा भी गया है। (१) वाणीके आलम्बनमात्र—केवल नाम ही—हैं और (२) विकार नामकी परमार्थतः कोई वस्तु नहीं है, इस प्रकार स्पष्टतः एक वाक्यको दो टुकड़ोंमें तोड़ने पर अभिप्रेत अर्थ प्राप्त हुआ है। यहाँ **'वाचारम्भणम्'** तथा **'नामधेयम्'** इन दोनों पदोंका अर्थ 'मिथ्यात्व' होनेसे व्यर्थ पुनरुक्ति भी होती हैं।

(६) इसी तरह विकार मिथ्या है और मृत्तिकामात्र सत्य है ऐसा अर्थ अभिप्रेत होने पर श्रुतिमें 'मृत्तिकैव सत्या' क्यों नहीं कहा गया? **'इति'** पदका भी कोई तात्पर्य नहीं रह जाता है।

(७) उपदेशमें आगे जाकर भी दृश्यमान जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व भी सद्रूपता दिखलायी गयी है और इससे सिद्ध होता है कि उत्पत्तिके बाद तो उसकी सत्यता असन्दिग्ध ही है, क्योंकि जैसाकि **'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत'** (छान्दो० उप० ६।२।१) इस श्रुतिवाक्यमें उल्लिखित मतके निराकरणपरक **'कथमसतः सज्जायेतेति'** (छान्दो० उप० ६।२।२) इत्यादि वाक्यसे स्पष्ट है असत्से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? अतएव निष्कर्षमें भी श्रुति कहती है **'सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** (छान्दो० उप० ६।२।२) अर्थात् यह दृश्यमान (जगत्) अपनी उत्पत्तिसे पूर्व भी सद्रूप ही था और वह भी एकमेवाद्वितीय। इससे स्पष्ट है कि इस श्रुतिमें कार्य और कारण दोनोंकी सद्रूपता और अभिन्नता अर्थात् शुद्धाद्वैतका निरूपण है।

इन सबमे बड़ी बात तो यह है कि यहाँ, जैसा कि अप्पयदीक्षितके कथनसे स्पष्ट है, लक्षण, उदाहरण और वचन की सङ्गतिके आधारपर स्वयं अद्वैत प्रक्रियासे भी मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता। अतः उपनिषदर्थसे स्पष्ट विरोध होनेकेकारण सूत्रका अर्थ मिथ्यात्वप्रतिपादक नहीं किया जा सकता। सूत्रकारने ऐसे विवादास्पद स्थलपर भी **'तन्मिथ्यात्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'** न कह कर **'तदनन्यत्वम्'** ही कहा है, इससे भी स्पष्ट प्रतीत

होता है कि वे यहाँ तादात्म्यरूप अभेदका ही प्रतिपादन करना चाहते हैं, मिथ्यात्वका नहीं। और इस तथ्यको परवर्ती सूत्र **'सत्त्वाच्चावरस्य'** (ब्रह्मसूत्र २।१।१६) तथा **'असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्'** (ब्रह्मसूत्र २।१।१७) और अधिक स्पष्टतया सिद्ध कर देते हैं। यही कारण है कि श्रीशङ्कराचार्यको इनमेंसे प्रथम सूत्रका अर्थ करते समय अध्याहार करना पड़ा अन्यथा सङ्गति बैठाना टेढ़ी खीर हो गयी थी, क्योंकि अनन्यत्वका अर्थ 'मिथ्यात्व' मान लेने पर इस सूत्रका अर्थ होता, 'जगत् मिथ्या है क्योंकि वह सत्य है।' इस विरोधको टालनेकेलिए श्रीशङ्कराचार्य अध्याहार करते हैं कि जगत् मिथ्या है क्योंकि वह कारणात्मना सत् है। वे यहाँ तो किसी तरह सँभले पर **'असद्व्य-पदेशान्नेति चेन्न**.........' (ब्रह्मसूत्र २।१।१७) में फिर फिसल गये क्योंकि यदि जगत्का सत्यत्व केवल कारणात्मना ही अभिप्रेत हो, तात्त्विकरूपेण नहीं, तो पूर्वपक्षीकी किन्हीं वाक्योंमें उसके असत् होनेकी आपत्तिका कुछ मूल्य ही नहीं रह जाता क्योंकि आपत्ति अनिष्टप्रसञ्जन है और ऐसा तो यहाँ कुछ है ही नहीं। और इसका खुलासा तो और भी द्राविड प्राणायाम हुआ, क्योंकि **'धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्'** (ब्रह्मसूत्र २।१।१७) तक जाने की जरूरत ही क्या है जबकि इष्टापत्तिसे परिहार हो सकता था ? इतना खुलासा पर्याप्त था कि यह असत्त्व अत्यन्तासत्त्व न होकर मिथ्यात्व है। और स्पष्टतया दोनों तरहके वचनोंका होना तो मिथ्यात्वका और अधिक समर्थनरूप होता। किन्तु **'धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्'** (ब्रह्मसूत्र २।१।१७) इस बातका स्पष्ट उद्घोष है कि जगत् उत्पत्तिके पश्चात् और पूर्व भी सत्य ही था, किन्तु अव्याकृत-अनाविर्भूत, न कि मिथ्या। और यही अर्थ श्रीशङ्कराचार्यको भी हठात् करना पड़ा।

इस तरह सिद्ध होता है कि लेखिकाने बिल्कुल 'baseless imagination' (निराधार कल्पना) के आधारपर उपनिषद्वाक्यके ऐसे अर्थको स्वाभाविक माननेका दुस्साहस किया है जो किसी भी रूपमें उससे ध्वनित नहीं होता।

इस प्रकार 'The Philosophy of Vallabhācārya' के सप्तम और अन्तिम परिच्छेद 'चरम मूल्याङ्कन' (Final Evaluation) में प्रतिपादित निष्कर्षका खण्डन यहाँ समाप्त होता है। निष्कर्ष टूटने पर साधनवाक्योंका मूल्य नहीं रहता, किन्तु हमें अभी और समालोचन करना है, क्योंकि तभी तो नींव टूटेगी जिससे ऐसे भद्दे निष्कर्षका प्रासाद पुनः न खड़ा किया जा सके।

●

तृतीय अध्याय

प्रथम परिच्छेदकी समालोचना

युगके साथ सन्दर्भ बदलते रहते हैं और युक्तायुक्तकी कल्पना सन्दर्भहीन स्थितिमें हो ही नहीं सकती। फिर भी कदाचित् कुछ ऐसी वस्तुएँ या मूल्य होंगे जो शाश्वत हों!

यह असम्भव नहीं है कि इस युगकी श्रेष्ठतम आनन्द देनेवाली विभिन्न कलाओंकी विधायें सन्दर्भके चूक जानेसे भविष्यमें न केवल कला ही न कहलायें प्रत्युत घृणास्पद भी हो जायें! किन्तु मानवीय विवेकका यह तकाज़ा है कि जब हम किसी वस्तुको नापसन्द करते हैं तो निश्चयेन एक सन्दर्भमें तो इस विकल्पको भी अवकाश दें कि सम्भवतः सन्दर्भविशेषमें यही वस्तु सर्वाधिक प्रिय भी हो सकती है।

प्रकृतमें हम यह विचार करेंगे कि मीमांसकोंने किस सन्दर्भमें सारी मीमांसा की है। और वहाँ भी पूर्वमीमांसकोंकी क्या स्थिति है और उत्तरमीमांसकोंकी क्या। प्रमाणमीमांसामें यह विचार किया जाता रहा है कि प्रमाण कितने हैं और उनका प्रामाण्य स्वतः है या परतः।

इस सन्दर्भमें चार्वाकोंने केवल प्रत्यक्षको ही प्रमाण माना है और बौद्धोंने प्रत्यक्ष और अनुमानको। इस तरह प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दसे बढ़ते-बढ़ते दस-ग्यारह प्रमाणोंका निर्धारण हुआ। यहाँ एक आधारभूत मान्यता यह काम कर रही है कि जब एक विलक्षण ज्ञान उत्पन्न होता है तो उसके अनुरूप उसका विषय भी होता ही है। इसीलिए न्यायभाष्यमें कहा गया है कि **'प्रमाता········येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्'** (न्यायभाष्यम्, १।१।१) अर्थात् प्रमाता जिसे साधन बना कर अर्थ—किसी भी वस्तु—का अनुभव करे उसे प्रमाण कहते हैं। यहाँ प्रमाके साधनको प्रमाण माना गया है और इसीलिए प्रमाका निर्वचन **'यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः'** (न्यायभाष्यम्, १।१।१) कहकर किया गया है। प्रमाके 'यथार्थानुभव', 'तत्त्वानुभव', 'जिस देश-कालमें जो वस्तु हो उस देश-कालमें उस वस्तुकी अनुभूति' या 'अनधिगत अबाधितार्थविषयक ज्ञान' आदि अनेक लक्षण किये गये हैं। कौन प्रमाण किस अन्य प्रमाणपर निर्भर है और किस अंशमें निर्भर है किस अंशमें नहीं आदि प्रश्नोंके खुलासामें यह भी चर्चा हुई कि प्रमाका प्रमात्व स्वतःसिद्ध है या परतःसिद्ध, दूसरे शब्दोंमें प्रमाणोंकी प्रमाणता स्वतः है या परतः। फलतः यदि ज्ञानका प्रमात्व ज्ञानग्राहकसामग्रीसे ही गृहीत न होता हो तो 'अनवस्था' होगी और 'निष्कम्पप्रवृत्तिका अभाव' हो जायेगा। इसीलिए कहा गया कि **'विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वं प्रमायाः स्वतस्त्वम्'** (सर्वद० स० पृष्ठ ५६५) अर्थात् जिस

सामग्रीसे ज्ञान पैदा होता है उसके अलावा किसी औरसे पैदा न होना ही प्रमाका 'स्वतः-प्रमात्व' है। इस सिद्धान्तको मानने वालोंको इस तथ्यकी व्याख्या करनेमें बड़ी सुविधा होती है कि जब हम किसी वस्तुका प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द से अपरोक्ष या परोक्ष ज्ञान कर रहे हों तो उस विषयके बारेमें हमारी प्रवृत्ति निःसंकोच होती है और इस ज्ञान या अनुभूति को प्रामाणिक माननेकेलिए हम इसका किसी दूसरे ज्ञान या अनुभव से समर्थन नहीं चाहते—हो जाये यह और बात है; अन्यथा इसे प्रामाणिक सिद्ध करनेकेलिए हम जिस दूसरी अनुभूतिकी आकांक्षा करेंगे वह स्वयं भी तो स्वतःसिद्ध नहीं होगी और उसे सिद्ध करनेकेलिए किसी तीसरी अनुभूतिकी अपेक्षा होगी और यह परम्परा चौथी, पाँचवीं से अनन्त अनुभूतियों तक भी जाकर शान्त नहीं हो सकती। एतदर्थ मीमांसकोंने सभी प्रमाणोंकी प्रमाणता स्वतःसिद्ध मानी। हो सकता है कि इस पर किसीको इनकी विरोधी युक्तियाँ—जिनका उल्लेख हम यहाँ नहीं कर रहे हैं—प्रबल प्रतीत हों, परन्तु यहाँ हमारा लक्ष्य यह निर्णय करना नहीं है कि कौन सा मत ठीक है क्योंकि इसकी चर्चा अत्यन्त विस्तृत, जटिल और प्रकृत प्रसङ्गमें अनुपयोगी है। हम जो कहना चाहते हैं वह यह है कि मीमांसकोंने प्रमाणको स्वतः-प्रमाण माना है और जब तक हम इस सन्दर्भमें उनका मत भली-भाँति नहीं समझते तब तक हमारी समझमें कुछ भी नहीं आ सकता है। और यह स्वतः-प्रामाण्य किसी एक या दो प्रमाणके बारेमें नहीं किन्तु—यदि प्रमाण हैं तो उनका प्रामाण्य स्वतः होगा अन्यथा प्रमाण ही नहीं यों व्यापक नियम पर आधारित होता है। और इसी आधारपर युक्ति दी जासकती है कि, 'सभी प्रमाण स्वतःप्रमाण हैं। शब्द भी एक प्रमाण है। अतः शब्द भी स्वतःप्रमाण है[1]।'

ऐसी स्थितिमें शब्दका स्वतःप्रामाण्य सिद्ध हुआ है। परन्तु लेखिकाको भ्रान्ति है कि शब्दको प्रमाण मानना अन्धश्रद्धा है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शब्दको प्रमाण मानना क्यों अन्धश्रद्धा है? क्या शब्दसे विलक्षण ज्ञान उत्पन्न नहीं होता? यहाँ विलक्षण ज्ञानका तात्पर्य है ऐसा ज्ञान जो शब्दके सिवाय किसी अन्य साधनसे न पैदा होता हो।

विचारकोंने यहाँतक व्यवस्था दी है कि सारी अनुभूतियोंके अपने-अपने विषय हैं और उन-उन विषयोंके बारे में वे अनुभूतियाँ अप्रतिहत होकर प्रमारूपा हैं। अतएव श्रीशङ्कराचार्य बृहदारण्यकोपनिषद्के अपने भाष्यमें कहते है, '**स्वविषयशूराणि हि प्रमाणानि श्रोत्रादिवत्**' (बृह० उप० २।१।२०) अर्थात् कानके पास फूल रखकर उसमें सुगन्ध होनेका या न होनेका दोनोंमेंसे कोई भी विधान करना अप्रामाणिक है क्योंकि गन्ध तो सूँघनेकी वस्तु है सुननेकी नहीं। इसी तरह जो प्रत्यक्षके क्षेत्र हैं वहाँ प्रत्यक्ष

1. श्रीपार्थसारथि मिश्र इसे बहुत सुन्दर शब्दोंमें समझाते हैं। 'प्रसिद्धानि हि प्रमाणानि तदन्तर्गतं च शास्त्रमतस्तदपि प्रसिद्धमेव। न च प्रसिद्धस्य प्रमाणस्य प्रामाण्यमन्येन परीक्षितव्यं स्वत एव तस्य स्वविषयोपस्थापनसामर्थ्यात्। यदि च परीक्ष्येत ततो येन परीक्ष्येत तस्याप्यन्येन इत्यनवस्था स्यात्' (शास्त्रदीपिका १।१।५)।

ही बलवान् है। अनुमान या अन्य प्रमाणोंके क्षेत्रकी चर्चा उठती है तो प्रत्यक्ष निर्बलतम प्रमाण भी हो सकता है। उदाहरण दिया गया है कि प्रत्यक्ष आगकी लपटें न दिखाई देती हों, आगकी गर्मी न महसूस होती हो किन्तु धुँआको देखकर यदि आगकी आनुमानिक अनुभूति हो रही हो तो वहाँ आगका प्रत्यक्षसिद्ध अभाव मान्य नहीं होता। इसी तरह अन्य प्रमाणोंके बारेमें कहा जा सकता है। अतएव श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं— **"न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुद्धयते, प्रमाणान्तराविषयमेव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति"** (बृह० उप० शाङ्करभाष्य २।१।२०) अर्थात् सच्चे अर्थमें एक प्रमाणका दूसरे प्रमाणसे विरोध हो ही नहीं सकता क्योंकि जो एक प्रमाणका विषय है वह दूसरे प्रमाणका विषय ही नहीं होता।

प्रमाणोंको स्वतः प्रमाण माननेका प्रयोजन ही यह है कि उनसे पैदा होनेवाली अनुभूति सन्देहसे लिपटी हुई नहीं है। ऐसी स्थितिमें (१) अनुभूति है, (२) वह निःसन्दिग्ध है (३) प्रमारूपा है (४) प्रमाका आलम्बन भी प्रमानुसारी होता ही है, क्योंकि उसके अन्यथा होने या न होने पर प्रमाका प्रमात्व ही नष्ट हो जायेगा, (५) प्रमेयसिद्धि हो जाती है। यहाँ मीमांसा-दर्शनमें युक्ति देनेका प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। यह एक दार्शनिक तथ्य है। इस तथ्यको ठीकसे न समझनेसे ही लेखिकाने कई भ्रान्तिपूर्ण मान्यताओंका प्रकाशन किया है। अतएव जब श्रीवल्लभाचार्य **'विरोध एव न शङ्कनीयः वस्तुस्वभावात्** (अणुभाष्य १।२।३२) कहते हैं तो उसके पीछे अन्य सभी दार्शनिकोंको मान्य यह यौक्तिक पृष्ठभूमि चमक रही है न कि श्रीवल्लभाचार्यकी श्रद्धा। यदि पूर्व या उत्तरमीमांसा के किसी भी सम्प्रदायका अध्ययन करना हो तो इस सन्दर्भका जानना बहुत आवश्यक है[1]। यहाँ लक्ष्यमें रखने लायक़ बात यही है कि मीमांसाका स्वतःप्रामाण्यका सिद्धान्त श्रीवल्लभाचार्य निरङ्कुशरूपमें सभी प्रमाणोंके बारेमें नहीं स्वीकार करते, फिर भी वैदिक शब्दके बारेमें तो स्वीकार करते ही हैं, अतः यहाँ वादिप्रतिवादि-उभय-सम्मति है।

इस सन्दर्भमें विचारकी प्रक्रिया यही है कि यदि प्रमेयविशेषमें दो प्रमाणोंकी गति हो और उन दोनोंमें परस्परविरोध हो तो समन्वयकी आवश्यकता पड़ती है और यही कारण है कि दो समान प्रमाणोंसे पैदा होनेवाली अनुभूति यदि समन्वित न हो तब सन्देह उठकर अनुभूतिमें विक्षेप पैदा करता है और विचारकी आवश्यकता पड़ती है। इन विभिन्न अनुभूतियोंके समन्वयका कितना महत्त्व है यह समझनेकेलिए श्रीवल्लभाचार्यने तत्त्वार्थदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणमें,

---

1. द्रष्टव्य;

न च वेदोक्तितो वेदः श्रद्धेयार्थ इहेष्यते। किन्त्वमानत्वहेतूनां वेदवाक्येष्वसम्भवात् ॥
प्रामाण्यं वेदवाक्यानां न च मानान्तराश्रयात्। अक्षादेरपि मानत्वं यथोक्तादेव कारणात् ॥
(बृह० उप० भाष्यवार्तिक)

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥ (शास्त्रार्थप्रकरण का० ७) ।

कहकर भी अन्ततः कहा है कि,

अथवा सर्वरूपत्वान्नामलीलाविभेदतः ।
विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि ॥ (शास्त्रार्थप्रकरण का० ९) ।

लेखिकाने इस स्पष्ट आधारभित्तिको न समझनेके कारण ही श्रीशङ्कराचार्यके अलावा अन्य सभी आचार्योंको एक कोटिमें रखकर और उनके सम्बन्धमें यह कहकर कि, 'who left no stone unturned in order to explain away those passages which did not uphold or support their own theories[1]'. (The Phil. of V. p. 2), श्रीशङ्कराचार्यको प्रखरज्ञानमार्तण्डकी पदवीसे विभूषित कर दिया है । न केवल इतना ही अपितु उन्होंने **'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'** इत्यादि श्रुतिके प्रसङ्गमें ज्ञानका अर्थ 'जानकारी' किया है, किन्तु स्पष्टतः यह जानकारी नहीं है । श्रीशङ्कराचार्यके मतके अनुसार आइन्स्टीन या वर्टेन्ड रसेल की मुक्ति नहीं हो सकती हैं क्योंकि उन्हें ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता, यद्यपि इनकी जानकारीके बारेमें कदाचित् वे भी इन्कार नहीं करते कि ये बहुत बड़े जानकार हैं । इस ज्ञानका तर्कके साथ लेशमात्र सम्पर्क नहीं है प्रत्युत यह ज्ञानतो प्रमाणसे भी अगोचर है क्योंकि प्रमाणज्ञानमें प्रमाता, प्रमिति, प्रमेय और प्रमाणका द्वैत है और द्वैतज्ञान मुक्तिसाधक नहीं है, मुक्तिसाधक तो अद्वैतज्ञान है, तो तर्कका तो कोई स्थान ही नहीं है । मुझे आशा है कि लेखिका अद्वैतदर्शनके इस मर्मको अपनी श्रद्धाके अनुरूप समझ रही होंगी ।

जिस तथ्य पर लेखिकाका ध्यान हम आकर्षित करना चाहते हैं वह यह है कि श्रीशङ्कराचार्यसे लेकर आजतकके भारतीय पद्धतिसे उनके दर्शनका अध्ययन करने वाले किसी भी विद्वान्ने अन्य वैष्णव दर्शनोंपर यह आपत्ति नहींकी कि इनमें उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्रके अलावा अन्य पुराणोंके वचनोंका समन्वय भी किया गया है । क्योंकि स्वयं शाङ्करदर्शनको भी यह अभिप्रेत है कि सभी पुराण और स्मृति वचन उस मतमें समन्वित हो जायें[2] । यह आपत्ति आधुनिक पाश्चात्य चिन्तकोंके भारतीय दर्शनके अध्ययनमें पदार्पण करनेके बाद प्रारम्भ हुई है । और स्पष्टतः उन्होंने इन सभी बातोंको दूसरे सन्दर्भमें देखा, बजाय उन सन्दर्भोंके जिनमें शताब्दियोंसे भारतीय तत्त्वचिन्तक देखते आये थे, इन दोमेंसे कौनसा सन्दर्भ ठीक है यह विचार करना प्रस्तुत समालोचनाका विषय नहीं

1. इस कथनका तात्पर्य यही है कि उन्होंने अपनी व्याख्या द्वारा श्रुतिके उन वाक्योंको उड़ा देनेका पूरा प्रयत्न किया है जो उनके अपने सिद्धान्तोंकी पुष्टि नहीं करते ।

2. चिदात्मा तु श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणगोचरस्तन्मूलतदविरुद्धन्यायनिर्णीतशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः । (अध्यासभाष्यभामती, पृष्ठ २५) ।

है। और स्वयं लेखिकाने भी तो स्वीकार किया है कि इन दर्शनोंको इनके द्वारा स्वीकृत सन्दर्भमें ही परखना चाहिये। और यह प्रतिज्ञा करते हुए भी जब स्वीकृत सन्दर्भ लेखिकाको ठीकसे समझमें नही आया है तब यह समालोचना प्रस्तुतकी जा रही है। लेखिकाकी स्थिति यहाँ वैसी हो जाती है कि न्यायालयमें वकील अपराधीपर आरोप लगाये और मुवक्किल कहे कि वकीलको इस सन्दर्भमें सारी स्थितियोंका समुचित ज्ञान नहीं है मुझे यह आरोप नही लगाना है किन्तु अन्य विषयोंपर अन्य आरोप लगाने हैं। यह गुनाह है तो मैं भी गुनहगार हूँ! किन्तु हम यह कह चुके हैं कि भारतीय प्राचीन चिन्तनमें यह गुनाह नही किन्तु इसका न होना गुनाह है और स्पष्टतः यहाँ सन्दर्भोंका प्रश्न है जिसे लेखिकाके साथ-साथ हम भी छोड़ना नहीं चाहते।

"**लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः**"के सिद्धान्तका तात्पर्य यह है कि वस्तुका लक्षण निर्धारित करनेसे सम्भावना बनती है और प्रमाणसे वस्तुसिद्धि होती है।

यहाँ मीमासाके एक सम्प्रदाय भाट्टमतमें प्रमाणका लक्षण **'अनधिगतार्थज्ञापकत्वम्'** माना गया है अर्थात् किसी अन्य प्रमाणसे न जानी जा सकने वाली वस्तुका जब किसी एक विशेष प्रकारसे अथवा अवस्थामें उत्पन्न हुई अनुभूतिद्वारा ज्ञान उत्पन्न हो रहा हो तो उस वस्तुका प्रमाण वही अनुभूति या उस अनुभूतिके साधन माने जायेंगे[1]। रूपका ज्ञान नाक या कान द्वारा सम्भव नहीं वह तो केवल आँखद्वारा ही सम्भव है अतः रूपका प्रमाण चक्षु अथवा चाक्षुष प्रत्यक्ष माना जाता है। ब्रह्मका ज्ञान भी अन्य प्रमाणोंसे सम्भव नहीं अतः वैदिकशब्द ही ब्रह्मके प्रमाण हैं। प्रमाणोंका प्रामाण्य मीमांसक स्वतः मानते हैं। अतः ब्रह्मके प्रमाण होनेके कारण वैदिक शब्दोंका प्रामाण्य भी सभी मीमांसकोंको स्वतः मानना चाहिये और सभीने माना भी है ही। अब इस स्थितिमें वेद ब्रह्मके बारेमें जो कुछ भी कहते हैं वह स्वतःप्रामाण्यवादके अनुसार निःसन्दिग्ध रूपमें प्रामाणिक है, तब जैसा भी निरूपण हमें इन ग्रन्थोंमें मिलता हो वैसा ही ब्रह्मको मान लेना चाहिये। कम-से-कम इस प्रश्नपर श्रीवल्लभाचार्यके किसी भी पूर्वपक्षीको आपत्ति नहीं है। हम स्पष्ट कर दें कि सूत्रकारके पूर्वपक्षी कोई भी हों किन्तु श्रीवल्लभाचार्यके पूर्वपक्षी तो ब्रह्मसूत्रके विभिन्न व्याख्याता ही हैं। अतएव वे शब्दप्रामाण्यको प्रतितन्त्रसिद्ध मानकर उसपर विचार ही नहीं करते, यही बात शाङ्करमत पर भी लागू होगी[2]। अब यदि प्रमाण अनधिगतार्थग्राही ही हो तथा उसका प्रामाण्य स्वतः ही हो तो जो कुछ एक बार अज्ञात वस्तुका ज्ञान होगा उसका प्रामाण्य भी स्वतः ही होगा, तो यही बात शाङ्कर मतपर भी लागू होगी क्योंकि वे भी मीमांसकोंका यह सिद्धान्त ज्यों-का-त्यों मानते हैं (**'व्यवहारे तु वयं भाट्टाः'**)। ऐसी स्थितिमें यदि शब्दप्रमाणसे सिद्ध वस्तुमें युक्तिकी गति हो तो

1 सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा। (श्लोकवार्तिक, २।१।५)।

2 प्रमाणान्तरविषयमेव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति। (बृह० उप० शाङ्करभाष्य २।१।२०)।

ब्रह्म युक्तिसिद्ध होनेसे **'शब्दैकसमधिगम्य'** नहीं रह जायेगा, फलतः 'अनधिगतार्थग्राही' न होनेसे शब्द प्रमाण ही नहीं रह जायेगा। ऐसी स्थितिमें तो शाङ्कर दर्शन वेदान्त ही नहीं रह जायेगा। सारा स्वतःप्रामाण्यवादका सिद्धान्त भङ्ग हो जायेगा। स्वयं अद्वैत-सम्प्रदायके पश्चाद्वर्ती वादग्रन्थोंमें अद्वैतकी सिद्धि शब्दकी अनधिगतार्थग्राहिताके आधारपर भी की गयी है। जबकि सामान्यतया द्वैतमें प्रत्यक्ष प्रमाणका होना माना जाता रहा है। स्वयं श्रीशङ्कराचार्य **'शास्त्रयोनित्वात्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।३) सूत्रके भाष्यके दूसरे वर्णकमें लिखते हैं, "**यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः। शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। किमर्थं तर्हीदं सूत्रम्? यावता पूर्वसूत्र एवैवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्। उच्यते, तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत, तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते 'शास्त्रयोनित्वाद्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।३) **इति।**" (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य १।१।३)। अतएव आगे चलकर वे कहेंगे **'यथाशब्दमिह भवितव्यम्'** (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य १।४।२७) और **'नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभः सम्भवति'** (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।१।६)। यही कारण है कि श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि ब्रह्ममें रूप आदिके न होनेसे उसे प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया जा सकता, कोई तार्किक हेतु भी ऐसा नहीं है जिसके आधारपर युक्तिसे या अनुमानसे ब्रह्मकी सिद्धि होती हो। ब्रह्म तो केवल आगमसे ही सिद्ध होता है, जैसे धर्म और अधर्म विना वेदके प्रमाणित नहीं किये जा सकते वैसे ही ब्रह्म भी। अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्के भाष्यमें वे एक जगह कहते हैं कि तार्किकोंको भी ज्ञात तो शब्दसे ही हुआ है कि कुछ ईश्वर या ब्रह्म जैसी वस्तु है परन्तु इसके बाद वे कथञ्चित् तर्क या युक्तियों से ईश्वरको प्रमाणित करना चाहते हैं, किन्तु यह सम्भव नहीं है।

प्रमाणके बारेमें ये दोनों सिद्धान्त कि सभी प्रमाण स्वतःप्रमाण हैं और सभी प्रमाण अनधिगतार्थग्राही हैं, पूर्णरूपेण नहीं भी तो वेदके बारेमें तो श्रीशङ्कराचार्यकी तरह श्री-रामानुजाचार्यसे श्रीवल्लभाचार्यपर्यन्त अन्य सभी दार्शनिकोंको भी मान्य है ही। अतएव श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि, **'वेदप्रामाण्यं तु प्रतितन्त्रसिद्धत्वान्न विचार्यते'** (ब्रह्मसूत्रा-णुभाष्य १।१।१)। उनका आशय यही है कि जिस सन्दर्भमें वे अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करने जारहे हैं वहाँ वेदप्रामाण्य सभीको मान्य है क्योंकि अन्यथा ब्रह्मजिज्ञासाका कोई तात्पर्य ही नहीं रह जाता है। स्वयं सूत्रमें वेदप्रामाण्यका विचार नहीं किया गया है किन्तु उसे सिद्धवत् मानकर उसके आधारपर ब्रह्मका विचार किया गया है। अतएव श्रीवल्लभा-चार्यका पूर्वोक्त खुलासा न केवल उनके अपने भाष्यपर अपितु सूत्रपर भी लागू होता है। और यही कारण है कि ब्रह्मजिज्ञासाकी प्रतिज्ञा पहले सूत्रमें की गयी और दूसरेमें

तुरन्त '**जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्**' कहा गया। यहीं पर श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं, "**किं च तत् किंलक्षणं किंप्रमाणकमिति जिज्ञासायामाह सूत्रकारः, 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।२) **इति।**" (ब्रह्मसूत्राणुभाष्य १।१।२)। स्पष्टतया वही, '**लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः**' का सिद्धान्त यहाँ भी काम कर रहा है। लक्षण भी शास्त्रोक्त है और प्रमाण तो स्वयं शास्त्र ही है। यद्यपि श्रीशङ्कराचार्यने इस सूत्रको दो सूत्रोंमें तोड़ा है किन्तु प्रथम सूत्रमें ब्रह्मका लक्षण मानकर द्वितीयमें पहले वही लक्षण समर्थित किया परन्तु अन्ततः श्रीवल्लभाचार्यकी प्रक्रियानुसार ही द्वितीयवर्णक देकर उसका अर्थ प्रमाणपरक कर दिया, तथा लक्षण एवं प्रमाणसे वस्तुकी सिद्धिकी परम्परा का पालन किया और प्रारम्भमें ही ब्रह्मकी शब्दैकसमधिगम्यता कह दी। इन दार्शनिकोंको इन सारे सन्दर्भोंमें न देखकर अन्य सन्दर्भमें देखनेपर अपनी रुचिके अनुसार एककी शैलीको पसन्द और दूसरेकी शैलीको नापसन्द किया जा सकता है परन्तु मूलकी नींव जब तक समान है किसी एककी वकालत नहीं की जा सकती क्योंकि यदि कहीं कोई बात युक्तिके बलपर सिद्धकी गयी हो तो वह ऐसी स्थिति होगी कि मकानका उतना अंश भूमिके अन्दर नींव डाले बिना खड़ा कर दिया गया हो।

इसी तरह पुराणोंसे परहेज़की नयी हवा है। और स्पष्टतः श्रीशङ्कराचार्यसे श्री-वल्लभाचार्यतक तथा प्राचीनकालसे अद्यावधि प्राचीन पद्धतिसे मीमांसा—चाहे पूर्व या उत्तर—का अध्ययन करनेवाले पुराणोंको इतनी भड़की हुई निगाहोंसे नहीं देखते हैं। किन्तु लेखिकाको यह जानकर आश्चर्य होगा कि वेदोंमें माने गये पाँच महायज्ञों, (१) देवयज्ञ (२) पितृयज्ञ (३) भूतयज्ञ (४) मनुष्ययज्ञ और (५) ब्रह्मयज्ञ में से अन्तिम ब्रह्म-यज्ञका तैत्तिरीय-आरण्यक (कृष्ण यजुर्वेद) में वर्णन इस तरह किया गया है।

यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः सन्तिष्ठते। यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन् स्वधा अधिवहन्ति....यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथानाराशंसीर्मेदसः कुल्या अस्य पितॄन् स्वधा अधिवहन्ति। (कृष्णयजुर्वेदान्तर्गततैत्ति-रीयारण्यक २।१०)।

जैसाकि इस उद्धरणसे स्पष्ट है स्वयं वेदमें पुराणोंके अध्ययनको वेद-स्वाध्यायके अन्तर्गत माना गया है और आधुनिक लोगोंको पुराणोंसे जो परहेज़ है उसे अस्वीकार किया गया है। न केवल यहीं किन्तु स्वयं उपनिषदोंमें भी पुराणोंको पाँचवें वेदके रूपमें सम्मा-नित किया गया है और वह भी छान्दोग्य और बृहदारण्यकमें। छान्दोग्यके, '**ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।**' (छान्दोग्योपनिषत् ७।१।२) इत्यादि मन्त्रपर भाष्य लिखते हुए लेखिकाकी मान्यताके विपरीत श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं, "**वेदशब्दस्य प्रकृतत्वादितिहासपुराणं पञ्चमं वेदम्**" (छान्दो० उप० शाङ्करभाष्य ७।१।२)। न केवल यहीं किन्तु इसी तरहका उल्लेख बृहदार-

णयकमें भी दो या तीन बार आया है। इसीलिए **"शास्त्रयोनित्वात्"** (ब्रह्मसूत्र १।१।३) के द्वितीय वर्णकमें श्रीशङ्कराचार्य शास्त्रपदसे ब्रह्मके बारेमें न केवल प्रस्थानत्रयका किन्तु परम्पराप्राप्त सभी शास्त्रोंका प्रामाण्य मानते हैं। वे कहते हैं, **'यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे'** (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य १।१।३)।

यहाँ **'यथोक्त'** शब्द पहले वर्णकमें कहे गये प्रकारका सूचन करता है। वहाँ कहा गया है, **"महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य"** (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, १।१।३)। यह स्पष्टतः,

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥'

में कही गयी पुराणानुसारी वेदार्थ करनेकी अनिवार्यताकी परम्पराका स्मारक है और यह अर्थ हम श्रीशङ्कराचार्यपर लाद नहीं रहे हैं किन्तु इस **'अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य'** पदका यही अर्थ है इसमें शाङ्करभाष्यके टीकाकार असन्दिग्धतया एकमत हैं[1]।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अद्वैतियोंकी वकील लेखिकाको पुराणोंसे परहेज है परन्तु अद्वैतियोंकेलिए तो वेदका प्रामाण्य पुराणों द्वारा ही रक्षित है। अब इसके आधारपर यदि श्रीवल्लभाचार्य वेदान्तकी व्याख्या करते हैं तो अद्वैतियोंके मतमें वेद-प्रामाण्य रक्षित होगा। हाँ लेखिकाका मत जो भी हो! और तथाकथित 'Inner consistency' (आन्तरिक सङ्गति या परस्परसंवादिता) की यही माँग है कि लेखिकाको भी ब्रह्मसूत्रका भागवतानुसारी अर्थ करनेको स्वाभाविक, प्रामाणिक एवं तार्किक (!) मानना चाहिये। इससे अधिक तो कुछ कहना वही सन्दर्भोंके प्रश्नोंको छेड़ना है। अतएव लेखिका जब श्रीरामानुजाचार्यपर आक्षेप करती हैं कि रामानुजाचार्य 'Very often quotes in support of his doctrine the V.P., which has been accepted by him as an additional canon of authority besides the normally acknowledged triple canon'. (The Phil. of V. p. 5)

1. (क) पुराणन्यायमीमांसादयः दश विद्यास्थानानि तैः तया-तया द्वारोपकृतस्य। तदनेन समस्त-शिष्टजनपरिग्रहेणाप्रामाण्यशङ्काप्यपाकृता। पुराणादिप्रणेतारो हि महर्षयः शिष्टाः तैस्तया तया द्वारा वेदान् व्याचक्षाणैस्तदर्थं चादरेणानुतिष्ठद्भिः परिगृहीतो वेद इति। (भामती १।१।३)।

(ख) पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि चत्वारि, शिक्षाकल्पौ, निरुक्तं, व्याकरणं, छन्दो, ज्योतिष-मिति षडङ्गानि, चत्वारो वेदा इति चतुर्दशविद्यास्थानानि (तत्त्वदीपनम् १।१।३)।

(ग) अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य,

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

इति याज्ञवल्क्यवचनसिद्धविद्यास्थानोपबृंहितस्येत्यर्थः। पुराणादयो हि विधिवाक्यानां प्रवर्तकत्वेन धर्मपर्यवसानार्थं बहूपकुर्वन्ति वेदप्रामाण्यरक्षणेनेति विद्यास्थानान्युपबृंहकानि मन्यन्ते (प्रदीप १।१।३)।

अर्थात् श्रीरामानुजाचार्य प्रायः अपने सिद्धान्तकी पुष्टिकेलिए विष्णुपुराण—जिसे उन्होंने सामान्यतः स्वीकृत प्रस्थानत्रयीके अलावा एक अतिरिक्त प्रमाणग्रन्थके रूपमें स्वीकार किया है—उद्धृत करते है, तो वह एक स्वीकृत सन्दर्भमें हास्यास्पद विधान हो जाता है क्योंकि 'Normally accepted' (सामान्यतः स्वीकृत) का क्या अर्थ है यह किसीकी समझमें नहीं आ सकता। इसका कारण यह है कि इसका अर्थ 'सर्वमान्य' नही हो सकता क्योंकि कई दर्शनोंमें शब्दको प्रमाण ही नहीं माना गया है। ऐसी स्थितिमें उनके लिए इन प्रस्थानोंको माननेका तो प्रश्न उठता ही नहीं। यह भी सम्भव है कि परतः-प्रामाण्यवादके अनुसार शब्द तो प्रमाण हो पर प्रामाण्य परतः होनेसे वेदकी महत्ताका प्रश्न ही न उठे और प्रत्यक्ष या युक्तिसे अविरुद्ध या सिद्ध अंशको कहने वाले वेदवचन ही प्रामाण्यरूप रह जायें। जहाँ तक मीमांसक और उनमें भी वेदान्तियोंका सवाल है तो किसी भी वेदान्ती ने यह नहीं कहा है कि केवल उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्रके आधार पर ही दर्शन उपस्थापित करना चाहिये, यहाँ तक कि श्रीशङ्कराचार्यने भी नहीं, जैसाकि लेखिकाको उनके इन तीन प्रस्थानों पर भाष्य लिखनेसे भ्रान्ति हो गयी है। यह लेखिकाकी भ्रान्ति है यह **'शास्त्रयोनित्वात्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।३) के शाङ्करभाष्यसे सिद्ध कर दिया गया है। इतर आचार्य तो स्पष्ट डंके की चोटपर अन्य पुराणोंका महत्त्व मानकर तद-नुसारी अपना मत सामने रखते हैं। और ऐसी स्थितिमें 'Normally accepted' (सामान्यतः स्वीकृत) एक सर्वथा अर्थहीन, प्रयोजनहीन एवं अज्ञानजन्य पद-प्रयोग रह जाता है।

पृष्ठ नौपर लेखिका कहती हैं, "The only point to be borne in mind is that in one there is an excess of importance attached to mere rituals without much consideration for other spiritual aspects, while in another, an emphasis on the rational mind is so overwhelming that the head would (even literally) get heated up under the strain of abstract and abstruse speculation, and, after having got accustomed to reading each and every word with a careful and analytic inter-pretation, one may possibly not find much that is worthy of note or importance in a doctrine, whose philosophy seems to have little to offer to one's mind." (The Phil. of V. p. 9). तात्पर्य यह है कि 'ध्यानमें रखनेकी बात केवल यह है कि एक जगह (वाल्लभमतमें) आध्यात्मिक पहलुओं पर बहुत विचार किये विना केवल कर्मकाण्डको अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है जबकि दूसरी जगह (शाङ्करभाष्यमें) तार्किक बुद्धिपर भार दिया गया है और वह भी इतने असाधारण रूपमें कि अमूर्त और अतिगूढ़ चिन्तनके दबावसे मस्तिष्क वस्तुतः उत्तेजित हो जाता है, और प्रत्येक शब्दको सतर्क एवं विश्लेषणात्मक व्याख्याके साथ पढ़नेका अभ्यस्त हो जाने पर, व्यक्तिको सम्भवतः उस सिद्धान्त या मतमें—जिसके दर्शनमें

बुद्धिको देनेके लिए कुछ भी उपलब्ध नहीं प्रतीत होता—ऐसी सामग्री अधिक न मिले जो उल्लेखनीय या महत्त्वपूर्ण हो।'

लेखिकाको सम्भवत: शाङ्करदर्शनका कोई सुलझा हुआ पथ-प्रदर्शक नहीं मिला होगा, नहीं तो व्यर्थ बुद्धिको इतना उत्तेजन नहीं होता। जहाँ तक वाल्लभमतमें कुछ उल्लेखनीय या महत्त्वपूर्ण नहीं प्राप्त होनेका प्रश्न है तो इस बातका तो यही जवाब है कि लेखिकाको न तो आधारभूत रूपमें शाङ्करदर्शन समझमें आया है और न वाल्लभ-दर्शन, और उस पर भी यदि पूर्वाग्रह काम कर रहा हो तो कुछ उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण पाना तो दूर वाक्योंका अर्थ कर पाना भी मुश्किल है।

पूर्वाग्रहदूषित बुद्धिपर अज्ञान और भ्रान्तियोंके इतने आवरण चढ़ जाते हैं कि विरोधीमतके महत्त्वका प्रकाश वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाता, फलतः अन्धकारका अनुभव होना अनिवार्य है, परन्तु विवेककी यह माँग है कि प्रकाशपुञ्जकी निन्दा करनेके बजाय अज्ञान और भ्रान्तियों के इन आवरणोंको चीरे।

लेखिकाका कहना है कि बुद्धि यदि सदसद्का विवेचन कर भी लेती है तो उस धारणाके हृदयारूढ होने तक बुद्धिको प्रतीक्षा करनी चाहिये, क्योंकि मानव न केवल बुद्धिमान् है और न केवल हृदयवान्। परन्तु कितना अच्छा होता कि लेखिकाके हृदयने बुद्धिको सदसद्विवेचनका अवसर दिया होता और तब तक पक्षग्रहण करने की व्यर्थ त्वरा न दिखायी होती! इस तरह विषयप्रवेश ही यह सिद्ध करता है कि जिस प्रवेश-द्वारसे लेखिकाने इस क्षेत्रमें प्रवेश किया है वह ठोस अध्ययनके अभाव, अज्ञान, भ्रान्ति, पूर्वाग्रह और दार्शनिक जटिलताओंके अपरिचयकी दिशाकी ओर खुला हुआ द्वार था और वहाँ से प्रविष्ट होने पर अजनबीपन महसूस होना स्वाभाविक ही था।

●

चतुर्थ अध्याय

सामान्यपरिचयालोचन

(द्वितीय परिच्छेदकी समालोचना)

इस (दूसरे) परिच्छेदमें लेखिकाने सर्वप्रथम विभिन्न वेदान्तसम्प्रदायोंकी विफलताका चित्रण किया है। आरम्भके पृष्ठपर ही तृतीय अनुच्छेदमें अन्य सभी आचार्यों द्वारा की गयी श्रीशङ्कराचार्यकी सगुणनिर्गुणसम्बन्धी व्यवस्थाकी आलोचनाका बचाव लेखिकाने इस आशयकी पंक्तियोंसे किया है। किसी भी मतके सुसम्बद्ध एवं सङ्गत होनेके मापदण्डके रूपमें जहाँ तक शुद्ध तत्त्वमीमांसासम्बन्धी (metaphysical) विचार और तर्क को लिया जाये तो श्रीशङ्कराचार्यका मत उल्लेखनीय रूपसे प्रभावित करता है क्योंकि उसमें इतने तीक्ष्ण तर्कोंसे परीक्षित आधारभूत मान्यताओंका प्रस्थापन किया गया है कि वे उन सिद्धान्तोंकी भीषणतम तार्किक परिणतिका सामना करनेको भी तैयार हैं। श्रीशङ्कराचार्य अपनी तर्कधाराको केवल उसी स्तरपर रोकते हैं जहाँ तर्ककी शक्ति क्षीण हो जाती है और उसे अनुभूतिको स्थान देना ही पड़ता है।

जहाँ तक प्रशंसाका सवाल है तो यह बात न केवल श्रीशङ्कराचार्य किन्तु श्रीरामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्योंके बारेमें भी उतनी ही सही है। किन्तु इस शाङ्करमतके सन्दर्भमें यहाँ तीन पदोंका विश्लेषण आवश्यक है (१) तर्क, (२) प्रमाण और (३) अनुभूति।

(१) तर्क शब्दका प्रयोग प्रायः दो अर्थोंमें देखा जाता है। एक तो तर्कका मतलब कहीं-कहीं 'अनुमान' भी होता है और दूसरे तर्कका मतलब 'प्रमाणोपपत्ति' भी माना गया है। मूलतः तर्क और अनुमान पृथक् अनुभूतियाँ हैं। गौतमसूत्रमें तर्ककी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है, **'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः'** (न्यायसूत्र १।१।४०) अर्थात् जिसे भलीभाँति न जानते हों ऐसे तत्त्वके बारेमें यथार्थज्ञान प्राप्त करनेके लिए—इसके ऐसे होनेमें यह कारण, हेतु या प्रमाण सम्भव है इस प्रकार—कारणकी उपपत्तिसे, ऐसा है या ऐसा नहीं है, आदिका ऊह करना तर्क है।

यहाँ वार्तिककार स्पष्ट कहते हैं कि अनुमानमें 'ऐसा ही है' यह अनुभव होता है किन्तु तर्कमें 'ऐसा ही होगा' यों अलग ही ढंगकी अनुभूति होती है। इसके अलावा भी जहाँ धर्म (हेतु) और धर्मी (पक्ष) दोनोंका ज्ञान हो वहाँ अनुमान कहलाता है

किन्तु जहाँ केवल धर्मीका ज्ञान हो और धर्मका ज्ञान न हो वह तर्क कहलाता है[1]। यहाँ यह स्पष्टरूपसे समझ लेना चाहिए कि भारतीय दर्शनके अनुसार तर्कसे स्वत: कोई भी वस्तु सिद्ध नहीं होती क्योंकि तर्कका काम 'प्रमाणोपपत्ति' है न कि 'प्रमेय साधन', अतएव भाष्यकार कहते हैं, **'कथं तत्त्वज्ञानार्थं इति ? तत्त्वज्ञानविषयाभ्यनुज्ञालक्षणादूहाद् भावितात्प्रसन्नादनन्तरं प्रमाणसामर्थ्यात् तत्त्वज्ञानम् उत्पद्यत इत्येव तत्त्वज्ञानार्थं इति'** (न्यायभाष्यम्, १।१।४०)। इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि, **'प्रमाणसामर्थ्याद् इति तर्कस्य स्वातन्त्र्यमपाकरोति'** (न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १।१।४०)। यह तो तर्कप्रधान न्याय दर्शनका मत है कि तर्क से वस्तुकी सिद्धि स्वत: नहीं होती किन्तु तर्क तो प्रमाणका केवल सहायक है। इस विषयमें वेदान्तकी तो सुस्पष्ट घोषणा है **'तर्काप्रतिष्ठानात्'**....।' (ब्रह्मसूत्र २।१।११)।

इस सन्दर्भमें निर्णय करना चाहिये कि तर्क शब्द कहीं 'अनुमान' के रूपमें और कहीं 'प्रमाणोपपत्ति' के रूपमें प्रयुक्त हुआ है। प्रमाणोपपत्तिके रूपमें तर्क अग्राह्य नहीं। मीमांसा स्वयं शब्दप्रमाणसे सिद्ध धर्म या ब्रह्म के बारेमें दिये गये प्रमाणोंका तार्किक विवेचन है। धर्म या ब्रह्म अनुमानसे तो सिद्ध होते ही नहीं है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं लेखिकाको श्रौत तर्क और शुष्क तर्क का प्रभेद ज्ञात नहीं है उसे हम यहाँ समझानेका प्रयत्न करेंगे। इस सन्दर्भमें भामतीके ये वाक्य द्रष्टव्य हैं, **'तर्को हि प्रमाणविषयविवेचकतया तदितिकर्तव्यताभूतस्तदाश्रयोऽसति प्रमाणेऽनुग्राह्यस्याश्रयस्याभावात् शुष्कतया नाद्रियते, यस्त्वागमप्रमाणाश्रयस्तद्विषयविवेचकस्तदविरोधी स 'मन्तव्य' इति विधीयते'** (भामती, २।१।६)। इस तरह श्रुतिपर अवलम्बित, श्रुतिसे अविरोधी तर्क तो श्रीवल्लभाचार्यने भी दिये ही हैं, और श्रीरामानुजाचार्यने भी। और जो श्रुतिपर अवलम्बित नहीं तथा श्रुतिसे विरुद्ध अर्थको कहनेवाले हों ऐसे तर्क यदि श्रीशङ्कराचार्यने दिये भी हों तो यह उनकी चूक ही है, तर्कप्रवणता नहीं जैसा कि उनके भाष्यसे सिद्ध होता है। यहाँ स्पष्टत: वाचस्पति मिश्र आगमाश्रित, आगमार्थविवेचक और आगमाविरोधी होने की तीन शर्तोंपर तर्कको ग्राह्य मानते हैं अन्यथा अग्राह्य। श्रीरामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्य इससे भिन्न या अधिक और क्या कहते हैं ? वे श्रुतिका सहारा लेकर शाङ्कर अर्थको अनुपपन्न सिद्ध करते हैं और स्वमतके लिए श्रुत्यर्थमें विनिगमना बताते हैं, और यही सब तो प्रकार हैं जिनमें उक्त तीनों शर्तें पाली जा सकती हैं। अतएव जब श्रीवल्लभाचार्य वेदानुसारिणी युक्ति देनेसे इन्कार करते हैं तो उसमें आगमानुसारी, आगमार्थविवेचक और आगमाविरोधी युक्ति ही देते हैं कि 'वस्तुस्वभावात्'। अतएव जब आगमगम्य अर्थमें प्रत्यक्ष या अनुमान के आधारपर विरोधकी प्रतीति होती है तो श्रीवल्लभाचार्यके

---

1. यत्र खलु द्वयमधिगम्यते धर्मी साधनधर्मश्च, तत्रानुमानं प्रवर्तते। यत्र पुनर्धर्मिमात्राधिगतिः, न लिङ्गाधिगतिरस्ति स तर्कविषयः। (न्यायवार्तिकम्, १।१।४०)।

अनुसार वहाँ तर्ककी अपेक्षा नहीं होती क्योंकि ऐसी स्थितिमें जो उपपत्ति दी जायेगी वह आगमानुसारिणी होगी क्योंकि प्रत्यक्ष या अनुमान के आधारपर दी गयी उनकी उपपत्ति उनपर आश्रित होगी और प्रत्यक्षानुमानाश्रित युक्ति तथा आगमाश्रित युक्ति का विरोध रहेगा ही । ऐसी स्थितिमें पुनः आगमप्रमाणकी मर्यादासे और सामर्थ्यसे आगम-गम्य अर्थमें वही युक्ति मान्य होगी तो फिर ऐसे व्यर्थ सन्देहसे फल ही क्या ? आगम-वाक्यमें परस्परविरोध प्रतीत होनेपर अवश्य दोनोंपर आधारित दोनोंका अर्थ-विवेचन करने वाली और दोनोंसे अविरोधी एक युक्ति खोजनी पड़ेगी और यही श्रीवल्लभाचार्यकी सर्वत्र व्याख्यानप्रणाली है तथा स्व-स्वमतानुसार श्रीरामानुजाचार्य आदिकी भी, जिसकी वकालत स्वयं श्रीशङ्कराचार्यके वचनोंके आधारपर भामतीकार करते हैं । अतएव वे कहते हैं कि युक्ति ऐसी ही होनी चाहिये । इसका कारण बताते हुए वे लिखते हैं, '**न चास्मिन्नागमैकसमधिगमनीये ब्रह्मणि प्रमाणान्तरस्यावकाशोऽस्ति, येन तदुपादायागम आक्षिप्येतेत्याशयवानाह**' (भामती २।१।६) । कुल मिलाकर ऐसा तर्क वेदान्तमें नहीं दिया जा सकता जिसका आधार श्रुति न हो चाहे अन्य प्रमाणोंके समर्थनकी दृष्टिसे वह तर्क कितना ही प्रबल क्यों न हो ।

और जहाँतक तर्कके 'अनुमान' होने वाले अर्थका प्रश्न है तो स्वयं श्रीशङ्कराचार्य बीसों जगह स्पष्ट कहते हैं कि "**लिङ्गाद्यभावात् च नानुमानादीनाम् इति च अवोचाम**" (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।१।११) । अतएव इस तरह कहा जा सकता है कि अनुमान और प्रत्यक्षतया अनुमानके आधारपर उठते तर्क ब्रह्मसम्बन्धी विचारमें कुण्ठित और शुष्क हैं । इन सारी आधारभूत बातोंको समझकर यदि लेखिका श्रीशङ्कराचार्यको तर्क-प्रवण मानती हों तो कोई आपत्ति नहीं अन्यथा न केवल हम किन्तु स्वयं श्रीशङ्कराचार्य, अपने को प्रत्यक्ष एवं अनुमान पर आश्रित तर्कोंकी कसौटीपर सिद्धान्तको कसने वाला मानने पर, घोर आपत्ति उठायेंगे, अर्थात् लेखिका ऐसे तर्कोंका महत्त्व निर्धारित परिधिके बाहर जाकर ही मान सकती हैं, परन्तु वह भी इस दुष्परिणामके मूल्यपर कि यदि लेखिका ठीक हैं तो श्रीशङ्कराचार्य वदतोव्याघात करते हैं अन्यथा सभी आचार्योंके ब्रह्म-सूत्रभाष्य तदुपयोगी विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और सङ्गति दिखलाने मात्रसे तार्किक हैं[1] । ऐसी स्थितिमें केवल श्रीशङ्कराचार्य ही को तार्किक माननेका आग्रह क्यों किया जाये ?

(२) प्रमाणके बारेमें तो हम पहले भी बता चुके हैं कि स्वतःप्रामाण्यवादी होनेके कारण सभी वेदान्ती आगमका भी स्वतःप्रामाण्य मानते हैं । अतः आगमगम्य अर्थमें अन्य प्रमाण या तदाश्रित तर्कके आधारपर सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने पर स्वतःप्रामाण्य ही भङ्ग हो जायेगा । स्वतःप्रामाण्यका मतलब भी यही है कि ज्ञान जब

1. द्रष्टव्य; 'वेदान्तमीमांसा तावत्तर्क एव ।' (भामती १।१।१ पृष्ठ ८३) ।

उत्पन्न होता है तो अपने प्रामाण्यके निश्चयके साथ ही अर्थात् अन्यप्रमाणनिरपेक्ष होकर ही। इस सम्बन्धमें होने वाले सन्देहको मीमांसाश्लोकवार्तिकसे निवृत्त कर लेना चाहिये। वैसे अद्वैतियोंके मतकी जानकारीके लिए वेदान्तपरिभाषाके 'स्वतः-प्रामाण्य' वाले परिच्छेदसे भी सन्देह निवृत्त किया जा सकता है अतः एक ही बातको दुहरानेसे कोई लाभ नहीं है। मूलतः श्रीशङ्कराचार्यके '**यथाशब्दमिह भवितव्यम्**' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य १।४।२७) इस आधारभूत वाक्यको नहीं भूलना चाहिये। अतएव '**जन्माद्यस्य यतः**' (ब्रह्मसूत्र १।१।२) सूत्रके भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्य सुस्पष्ट शब्दोंमें 'जन्मादिके कारणरूपसे ईश्वर अनुमानसे भी सिद्ध हो सकता है' इस शङ्काको दूर करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान उपनिषद्वाक्योंके अर्थनिश्चयसे होगा अनुमान आदि प्रमाणोंसे नहीं। एक बार वेदान्तवाक्यसे सिद्ध हो जानेपर उसको और दृढ़ करनेके लिए यदि श्रौत हेतुसे अनुमान किया जाये तो ऐसी स्थितिमें वेदान्तवाक्याविरोधी प्रमाणका—चाहे वह अनुमान ही क्यों न हो—हम निराकरण नहीं करेंगे। स्पष्टतः ऐसी स्थितिमें श्रुतिका निरपेक्ष प्रामाण्य और स्वतःप्रामाण्य भङ्ग नहीं होता है क्योंकि हेतु स्वयं श्रौत है। अन्यथा अन्य हेतुसे सिद्ध होनेपर श्रुतिका निरपेक्ष और स्वतःप्रामाण्य भङ्ग हुए विना रह नहीं सकता। अतएव यहीं कल्पतरुकार कहते हैं कि जन्मादिके आधारपर तो कारणमात्रकी सम्भावना बनती है किन्तु वह कारण सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, एक है इत्यादि बातें तो युक्ति भी शब्दके आधारपर ही सिद्ध कर सकती है स्वतन्त्रतया नहीं, अन्यथा ब्रह्म शब्दैकगम्य रह ही नहीं जायेगा। (३) अनुभूतिका लेखिकाने क्या तात्पर्य समझा है हमें मालूम नहीं, किन्तु संशय या विपर्यय को दूर करनेकेलिए मौलिक रूपसे शाङ्करमतमें अनुभूतिका क्या स्थान है यह समझ लेना चाहिये ताकि फिर आगे चलकर भ्रान्तियाँ मार्गमें प्रतिबन्ध पैदा न करें। '**जन्माद्यस्य यतः**' (ब्रह्मसूत्र १।१।२) के भाष्यमें आगे चलकर श्रीशङ्करा-चार्य कहते हैं कि ब्रह्मजिज्ञासामें धर्मजिज्ञासाकी तरह केवल श्रुति ही प्रमाण नहीं किन्तु श्रुति आदि और अनुभव आदि भी यथासम्भव प्रमाण हैं। यहाँ प्रथम तो यथासम्भवका अर्थ श्रुति का अवलम्बन, विवेचन और अविरोध ही है। इसके अलावा '**आदि**' शब्दका अर्थ भामतीकार इस रूपमें लेते हैं कि इतिहास, पुराण और स्मृति भी प्रमाण हैं। हाँ, अनुभव भी प्रमाण है इसके पीछे एक दार्शनिक रहस्य मुझे प्रतीत होता है और वह है अद्वैतियों का शब्दापरोक्षवाद अर्थात् शब्दसे जैसे परोक्षज्ञान होता है वैसे ही अपरोक्षज्ञान भी होता है। उनका उदाहरण है, '**दशमस्त्वमसि।**' यह अत्यन्त विवादास्पद विषय है, अतः इसे वादग्रन्थोंसे ही सविस्तार समझना चाहिये। अतएव जब लेखिकाने यहाँ यह कहा कि श्रीशङ्कराचार्य युक्तिका त्याग अनुभवके स्थलपर करते हैं, तो हमें सन्देह है कि वे कहीं इसी तरहके अनुभवकी बात तो नहीं करना चाहतीं, क्योंकि इससे बहुत पहले ही शब्दप्रमाणानुसार अर्थनिर्धारण और युक्तिको सम्मान देनेकी व्यवस्था दी जा चुकी है,

फिर अन्य अनुभवका तो यहाँ प्रश्न ही नहीं है। अतः यह खुलासा करना पड़ा।

पृष्ठ ग्यारहपर ही लेखिकाने यह भी कहा है कि सूत्रोंका खींचतान कर अर्थ जितना श्रीशङ्कराचार्य करते हैं उससे कहीं अधिक अन्य वैष्णव आचार्य करते हैं, विशेषतः इसलिए कि उनके मत स्वीकृत प्रस्थानत्रयीसे बहिर्भूत स्रोतोंपर अवलम्बित हैं। प्रस्थानत्रयकी स्वीकृति और इनसे बहिर्भूत ग्रन्थोंके आधारका खुलासा हमने पहले ही विस्तारसे कर दिया है। यहाँ सिर्फ़ इतना ही और कहना है कि इस सम्बन्धमें लेखिकाकी भ्रान्तिके बावजूद श्रीशङ्कराचार्य इन बाहरी ज़िम्मेदारियोंसे मुक्त नहीं किन्तु बँधे हुए हैं। हाँ वे इनका पालन न करें यह कुछ और बात है। परन्तु शाङ्कर विद्वान् तो इसे भी नहीं मानेंगे कि उन्होंने अपनी इस अंशकी ज़िम्मेदारीको निभाया नहीं है।

इसके अलावा यह वही पृष्ठ है जिसपर पादटिप्पणीमें लेखिकाने एक सच्ची समझ-दारीभरी और आवश्यक प्रतिज्ञा की है परन्तु खेद है कि उस प्रतिज्ञाके फलितार्थ और महत्त्वको समझे विना लेखिकाने पूरा लेख इस प्रतिज्ञाको भुलाकर ही लिखा है और वह प्रतिज्ञा यह है कि 'यहाँ जो कुछ भी कहा गया है वह स्वयं भाष्यकार आचार्योंके दृष्टिकोणसे ही·····। किन्तु यहाँ हमारा सम्बन्ध भाष्यकारोंसे और उनके मतोंसे है और इसीलिए हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम स्वीकृत क्षितिज को लाँघने का प्रयास करें·····।' यह कथन एक विधानविशेषके लिए कहा गया होनेपर भी अपने स्वभाव और युक्तिके समान होनेसे सर्वत्र लागू किया जा सकता है जैसा कि हमने इस प्रतिज्ञाका उपयोग यत्र-तत्र किया है और आगे भी अवसरानुकूल करेंगे। शायद यहाँ लेखिका प्रतिबद्ध न हुई होतीं तो एतदर्थ हमें स्वतन्त्र प्रयास करना पड़ता।

पृष्ठ बारहपर लेखिकाने श्रुतिके **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** (छान्दो० उप० ६।१।४) इस वाक्यके आधारपर 'माया' के सिद्धान्तका समर्थन करना चाहा है। अतः हम समर्थनमें उपयोगमें लाये गये वाक्योंका विचार प्रारम्भ करते हैं।

कठोपनिषद्के **'एकं रूपं बहुधा यः करोति'** (कठोप० २।२।१२) इस वाक्यमें स्पष्टतया अन्तर्यामिताका निरूपण अभिप्रेत है। पूर्वसन्दर्भमें और पश्चात्-सन्दर्भमें इस ब्रह्मकी सर्वान्तिर्यामिताके ज्ञानसे शाश्वत सुखकी प्राप्ति होना दिखलाया गया है। ऐसी स्थितिमें यहाँ **'एकं रूपं बहुधा यः करोति'** (कठोप० २।२।१२) से मायाका सिद्धान्त पूर्वापर सभी श्रुतियोंका अद्वैतानुसारी अर्थकरनेपर ही ध्वनित हो सकता है अन्यथा नहीं, क्योंकि विशिष्टाद्वैत या शुद्धाद्वैत के अनुसार भी इस श्रुतिको उतने ही बल्कि उससे भी अधिक स्वाभाविक रूपमें घटाया जा सकता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद्में तो 'माया' के सिद्धान्तकी अविकसित तो दूर गन्धात्मिका स्थिति भी नहीं है क्योंकि छठे अध्यायके दसवें वाक्यमें परिणामवादी उदाहरण (मकड़ी और जाला का) देकर कहा गया है कि ब्रह्म स्वभावतः यह सब करता है। इसके प्रकाशमें

देखें तो एक बीजको बहुतसे रूप देनेमें मायाकी आवश्यकता कहाँ है ? यह भी तो परिणामवादी उदाहरण है। इसके बादवाली श्रुतिमें यह वर्णन किया गया है कि जड़ और जीव की सत्ता और चैतन्य का आधार ब्रह्म है। लक्ष्यमें लानेकी बात तो यह है कि '**निष्क्रियाणां बहूनां—यः करोति**' मे स्पष्ट है कि यहाँ अद्वैतविरोधी सिद्धान्तका प्रतिपादन है क्योंकि '**बहूनां सक्रियाणां**' होनेके साथ ब्रह्म निष्क्रिय है। अतएव एक ही वाक्यमें सगुणनिर्गुण आदिका प्रतिपादन करता हुआ यह सम्पूर्ण प्रकरण विरुद्धधर्माश्रय, परिणामवाद आदिकी घोषणा करता है न कि मायावादकी।

जहाँ तक गीताके '**सम्भवाम्यात्ममायया**' (गीता ४।६) इत्यादि वाक्यका प्रश्न है तो यहाँ भाष्यकार और टीकाकारों की परस्पर सिरफुटव्वल देखी होती तो ज्ञात होता कि यहाँ 'माया' का सिद्धान्त कहा जा रहा है या नहीं। वैसे इतना ही यदि यहाँ कहना अभिलषित होता कि ब्रह्ममें मायावश जन्मकी प्रतीति होती है तो उतना माहात्म्य तो अर्जुनका भी सिद्ध ही है फिर '**भूतानामीश्वरोऽपि सन्**' (गीता ४।६) आदिका क्या प्रयोजन रह जाता है ? इसे यदि शबलब्रह्मपरक मानते हैं तो भाष्यकी पंक्तियोंसे भी विरोध होगा। ऐसी स्थितिमें अद्वैताभिमत 'माया' का सिद्धान्त यहाँ कैसे विवक्षित हो सकता है ? और नहीं तो सभी वैष्णव आचार्योंको कोई 'माया' शब्दसे परहेज़ नहीं है, उनकी व्याख्यायें यहाँ उपलब्ध ही हैं कि माया अर्थात् सदसदनिर्वचनीय अविद्या नहीं किन्तु '**स्वरूपाभिन्ना शक्तिः।**' इसी तरह '**मम माया दुरत्यया**' (गीता ७।१४) के बारेमें भी कहा जा सकता है।

लेखिकाको भ्रान्ति है कि सगुणका प्रतिपादन उपनिषदोंके अन्य वाक्यसमूह करते हैं और निर्गुणका अन्य वाक्यसमूह, किन्तु श्रुतियोंमें प्रायः एक ही वाक्य निर्गुण और सगुण का एक साथ वर्णन करते हैं। ऐसी स्थितिमें एक ही वाक्यको उपासना और स्वरूप दोनोंका प्रतिपादक माननेपर वाक्यमें वैरूप्य हो जायेगा, अतएव यह कहना एकाङ्गी विधान करना है कि परिपूर्ण मतके स्थापन मात्रसे श्रीशङ्कराचार्य भारतके अद्वितीय दार्शनिक हैं। अतः जैसा कि लेखिकाकी धारणा है कि 'श्रीशङ्कराचार्य ब्रह्मसूत्रके प्रामाणिक व्याख्याता नहीं हैं' (The Phil. of V. p. 13), हम यह कहना चाहेंगे कि अन्य वैष्णव अपनी-अपनी भूमिकाके अनुसार न केवल प्रामाणिक हैं अपितु अपने आपमें परिपूर्ण मतके स्थापक होनेसे अद्वितीय ही हैं। शुद्धाद्वैतमें यह ऐच्छिक द्वैत सहा जा सकता है।

ख़ैर श्रीशङ्कराचार्य कदाचित् वदतोव्याघात करते हों या न करते हों पर लेखिका उनका समर्थन करते-करते आश्चर्यजनक रूपमें परस्पर-घातक विधान कर बैठी हैं। हम यहाँ लेखिकाके कुछ वचन उद्धृत करते हैं, वे Inner Consistency (आन्तरिक सङ्गति या परस्परसंवादिता) का विचार करेंगी ऐसी आशा है।

पृष्ठ तेरहपर लेखिका कहती है, "As a matter of fact the B. S. nowhere give an inkling even of such a view; hence, if loyalty to the intention of the Sūtrakāra has to be taken into account, Ś. does not seem to be a faithful interpreter of the sūtras—still, he deserves all credit for giving us a complete system 'of great speculative daring and logical subtlety.' " (The Phil. of V. p. 13).

पृष्ठ चौदहपर वे लिखती हैं, "Ś. may not be the originator of the Māyāvāda, yet its introduction and the consequence thereof, viz. the two-fold aspect of Br., do not in the least seem to be the intention of the author of the sūtras." (The Phil. of V. p. 14).

तथा पृष्ठ तीन-सौ-इक्कीस-पर वे कहती हैं, "On the other hand, the straight-forward reading of the sūtra emphasises the point that Br. is only formless, since the śruti texts chiefly present Br. to be so. The determinative particle 'eva' after the employment of the word 'Arūpavat' lays stress on that aspect only. This straight-forward statement as embodied in this sūtra can also be argued to lay bare the intention of the Sūtrakāra, viz., that the Nirguṇa Br. is the highest..." (The Phil. of V. p. 321).

इसी तरह **'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** (छान्दो० उप० ६।१।४) में भी लेखिका 'एव' पर भारसे यह सिद्ध करना चाहती हैं कि नामरूप मिथ्या हैं, स्पष्टतः यदि ब्रह्ममें 'नाम-रूप' है तो वह भी मिथ्या हो जायेगा। ब्रह्म मिथ्या हो नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें जब श्रीशङ्कराचार्य सगुण और निर्गुण की दो तरहकी श्रुतिके आधारपर कल्पना प्रस्तुत करते हैं तो वह श्रीशङ्कराचार्यके मतकी सबसे बड़ी कमज़ोरी ('the greatest weakness in the theory of Ś.'—The Phil. of V. p. 14) क्यों सिद्ध हो रही है ? हम निष्कर्षालोचनमें देख चुके हैं कि नामरूपके मिथ्यात्वके लिए लेखिकाने कितना ज़ोरदार सङ्घर्ष किया था। कहीं लेखिका ब्रह्मको भी मिथ्या बनानेका प्रयत्न न कर रही हों !

पृष्ठ सोलहपर लेखिका कहती हैं कि श्रीवल्लभाचार्य अंशांशिभावके सिद्धान्तसे जीवका ब्रह्ममेंसे व्युच्चरित होना मानते हैं जैसे अग्निमेंसे चिनगारीका व्युच्चरित होना। किन्तु लेखिकाके अनुसार यह असम्बद्ध या अस्वीकार्य बात है कि चिनगारियाँ आगमेंसे निकलें और वे अग्निकी अंश होती हुई भी अंशीके प्रधान धर्मोंमेंसे कुछको ही धारण करती हों।

यहाँ यह स्पष्ट नहीं हुआ कि लेखिकाको यह आपत्ति बृहदारण्यक और कौषीतकि-ब्राह्मण उपनिषदों में कहे गये, **'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेव अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः·····व्युच्चरन्ति'** (बृह० उप० २।१।२०) और **'यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा**

दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते' (कौषी० उप० ३।३ तथा ४।१९) इत्यादि वचनोंपर है या इनकी वाल्लभव्याख्यापर । अतः इस आपत्तिका उत्तर हम आगे चलकर देंगे ।

आनन्दांशके तिरोभावसे श्रीवल्लभाचार्यने जीवको निराकार कहा है क्योंकि ब्रह्म-वादमें आकारसमर्पक आनन्द ही है अतः आनन्दांशके तिरोभावसे जीव निराकार कहा जाता है । इस सन्दर्भमें निराकार तिरोहितानन्दका पर्याय है । लेखिकाके अनुसार यदि ये निराकार और ब्रह्मांश पद परस्पर-व्याहत न भी हों तो भी 'निराकार' पद अनुचित तो अवश्य है । अनुचित क्यों ? क्या सभी दर्शन शास्त्रोंमें पारिभाषिक शब्द नहीं होते ? फिर इस 'निराकार' पदको ही पारिभाषिक क्यों न माना जाये ? जब कि तत्त्वार्थ-दीपनिबन्धकी **'अतएव निराकारी पूर्वावानन्दलोपतः'** (शास्त्रार्थप्र० का ३०) इस कारिकाकी अपनी प्रकाश व्याख्यामें स्वयं श्रीवल्लभाचार्य, **'भगवदाकारश्चतुर्भुजत्वादिः आकारशब्देन उच्यते'** (शास्त्रार्थप्र० प्र० ३०) इत्यादि वाक्यद्वारा निराकार शब्दकी पारिभाषिकता दिखलाते हैं । यही कारण है कि जगत्के मिथ्या एवं भ्रमात्मक होनेके बावजूद शाङ्करदर्शनमें उनकी प्रमाणज्ञानकी परिभाषाके अनुसार जगत्के विभिन्न विषयोंके ज्ञानको प्रामाणिक ही कहा जाता है । और इस तरहके पदप्रयोगको किसी भी विवेक-शील दर्शनशास्त्रके अध्येताने अनुचित नहीं माना है । सभी शास्त्रोंके अपने-अपने पारि-भाषिक शब्द होते ही हैं । उनका विचार शब्दकोष या व्याकरण में दिये गये अर्थके अनुसार नहीं होता । स्वयं 'दर्शन' शब्द एक पारिभाषिक शब्द है और इसका मतलब दिखाई देना या देखना नहीं है । और न इस कारण यह अनुचित नाम ही है कि दर्शनसे आँखसे कुछ दीखता-दिखाता नहीं । सम्भवतः लेखिकाका दार्शनिक शब्दबोध कोषार्थतक ही सीमित है ।

लेखिकाके अनुसार अणुत्व और विभुत्व दो विरोधी धर्म होनेसे जीवमें सम्भव नहीं हैं और यदि आनन्दांशके आविर्भावसे विभुत्व आता है यों मानें तो फिर उसमेंसे जीवत्व ही निकल जायेगा और वह ब्रह्मसे सर्वथा अपृथक् हो जायेगा जो वाल्लभमतके अनुसार सम्भव नहीं है ।

यहाँ श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार सिद्धान्तस्थिति क्या है यह जाननेके लिए तत्त्वार्थ-दीपनिबन्धमें वे क्या निरूपण करते हैं यह देखना चाहिए ।

आनन्दांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः ।
प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वञ्च तस्य तत् ॥ (शास्त्रार्थप्रकरण का० ५४) ।

"....**ब्रह्मत्वेऽपि नाधिकपरिमाणता वक्तव्या । अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति । यथा कृष्णो यशोदाक्रोडे स्थितोऽपि सर्वजगदाधारो भवति । तथा जीवस्यापि आनन्दांशश्चेद-भिव्यक्तः तदा तस्मिन् ब्रह्माण्डकोटयो भवन्ति । अतएव परिच्छेदेऽपि व्यापकत्वसिद्धेः, न**

तदनुरोधेन अधिकपरिमाणत्वमङ्गीकर्तव्यम् इत्याह—'परिच्छेदो व्यापकत्वञ्च तस्य तद्' इति । अलौकिकेषु धर्मेषु प्रमाणमेवानुसर्तव्यं, न तु लौकिको युक्तिः, अतो व्यापकत्वेऽपि न आराग्रमात्रत्वं दोषाय ।'' (शास्त्रार्थप्र० प्र० ५४) ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जीवमें ब्रह्मभाव आता है, ब्रह्मपरिमाण नहीं, और अणुत्व तथा विभुत्व इन दो विरोधी धर्मोंका एक ब्रह्ममें होना तो श्रुतिवाक्य ही नहीं, श्रीशङ्कराचार्य भी मानते हैं[1] । जहाँ तक एक या दो-तीन ब्रह्मधर्मोंके आविर्भावके आधारपर मुक्तजीवके ब्रह्मसे सर्वथा अपृथक् हो जानेकी बात है इस सम्बन्धमें वाल्लभ-दर्शनकी स्थिति स्पष्ट है कि अन्तर्यामी और अक्षर भी तो व्यापक हैं पर उनका ब्रह्मसे पृथक् परिचय धर्मभेदसे दिया गया है । 'मुक्तत्व' ही एक ऐसा धर्म है जिससे यह सम्भव है तो जीवमें तो और ऐसे अनेक परिचायक धर्मभेद हैं । श्रीशङ्कराचार्यके मतमें भी जगद्व्यापाराधिकरणमें ईश्वरसे सायुज्य होनेके बाद भी ईश्वरके सारे धर्म जीवमें नहीं आते हैं । किन्तु यह तो सगुणमुक्ति है । श्रीशङ्कराचार्य तो निर्गुणमुक्तिमें भी धर्मभेदका सर्वथा अनादर नहीं करते[2] ।

यहीं पृष्ठ इक्कीसकी पाद-टिप्पणीमें लेखिकाका कहना है कि सारी बातोंकी उपपत्ति श्रीवल्लभाचार्य जो ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रय होनेके आधारपर करते हैं वह ऐसी स्थिति है कि कोई यह कहे कि चतुष्कोण एवं अचतुष्कोण विरोधी धर्म हैं किन्तु यह न माने कि पारमार्थिक स्तरपर अचतुष्कोण तत्त्व का अस्तित्व नहीं है । न केवल इतना ही अपितु यह सारे बौद्धिक विचारके मूल 'अव्याघात नियम' को भी ठुकराना है । इस अव्याघात नियमकी फ़ज़ीहत तो स्वयं श्रीवल्लभाचार्यसे सदियों पूर्व श्रीशङ्कराचार्य बृहदारण्यक उपनिषद्के द्वितीयाध्यायके बीसवें वचनके भाष्यमें, 'तार्किकताका पीछा करने वाले इस ब्रह्मको नहीं समझ सकते क्योंकि ब्रह्म विरोधी धर्मोंका आश्रय है' इत्यादि[3] कह कर करते हैं । अब हमें नहीं मालूम कि लेखिका श्रीशङ्कराचार्यके इस वचनको गम्भीर दार्शनिक चिन्तन, कठोर यौक्तिक परीक्षण एवं तत्त्वमीमांसाके पराकाष्ठापन्न चिन्तन का परिणाम मानेंगी या नहीं !

अभेदवादकी अप्रतिकार्य परिणति है, 'मूलमें सारे विरोधों का अविरोध मानना;'

---

1. 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके' (ईशोप० ५) इत्यादिविरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यश्च (बृह० उप० शाङ्करभाष्य २।१।२०) ।

2. सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥
(श्रीशङ्कराचार्यकृतषट्पदी, श्लोक ३) ।

3. तस्मात्तार्किकचाटभटराजाप्रवेश्यमभयं दुर्गमिदमल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैश्च,······ 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके' (ईशोप० ५) इत्यादि—विरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यश्च । (बृह० उप० शाङ्करभाष्य १।१।२०) ।

अन्यथा जहाँ यथार्थवाद एवं अभेदवाद दोनोंको माना जाता है वहाँ अभेदवाद बनेगा ही नहीं । वैसे शाङ्करदर्शनमें जहाँ अयथार्थवाद तथा अभेदवाद की कल्पनाकी गयी है वहाँ भी विभिन्न विरोधोंको अयथार्थ मानकर और इन अयथार्थ विरोधोंका एक अयथार्थ कारण (अर्थात् मायाको) मानकर स्पष्टतः विरोधोंका किसी एक स्थलपर अयथार्थ ही सही अविरोध तो माना ही गया है । इस प्रश्नके अन्यथा समाधानके लिए भेदवादी दृष्टिकोण आवश्यक है; किन्तु आवश्यक और अनावश्यक मनकी सुविधा है । बुद्धिको भारतीय दर्शन प्रमाणाधीन मानता है । इस प्रमेयविशेषको शब्दप्रमाणगम्य माननेके सन्दर्भका उल्लेख हम कर ही चुके हैं । अतएव जब इस शब्दैकगम्य अर्थके सम्बन्धमें लेखिका पृष्ठ सत्ताईस पर प्रश्न करती हैं कि "जब कर्मकारयिता और फलदाता ईश्वर हैं तो फिर किसीको क्या अधिकार है कि जीवके पाप अथवा असदाचरण के लिए उसकी निन्दा करे ?" तो उसका उत्तर अत्यन्त सरल हो जाता है कि कौन निन्दा कर रहा है, इस ईश्वराधीन ब्रह्माण्डका प्राणी या कोई बाहरी ईश्वरसे अपराधीन ब्रह्माण्डका प्राणी । पहली कल्पना इसलिए तुच्छ है कि वही असदाचरण करवाता और वही बिचारे (!) जीवको दण्ड भी देता है तब क्या किया जा सकता है ? सवाल तो यहाँ बहुत बड़े अन्यायका है, फिर निन्दा जैसी छोटी-सी बातकी चिन्ता करना तो हाथीके निकल जानेके बाद पूँछकी चिन्ता करना है ! बाहरी ब्रह्माण्ड विचारके सन्दर्भके क्षितिजके भी बाहर है । वैसे इस विषयपर हम पहले भी लिख चुके हैं । अतएव पृष्ठ उन्तीसपर जब लेखिका यह कहती हैं कि 'श्रीवल्लभाचार्य ईश्वरके स्वातन्त्र्य और उनकी अप्रतिहत इच्छा की रक्षा करनेके लिए सङ्घर्ष कर रहे हैं' तो श्रीवल्लभाचार्यपर श्रुतिकी ओटमें असम्बद्धताका आरोप नहीं लगता किन्तु यही स्पष्ट होता है कि सन्दर्भहीन विचार करने पर लेखिका श्रीवल्लभाचार्यके श्रौतार्थसे सङ्घर्ष करनेमें विफल हो गयी हैं । इससे सम्बन्धित विचार निष्कर्षालोचनमें हो ही गया है ।

पृष्ठ छत्तीसपर लेखिकाका कहना है कि कृष्णको एक व्यक्तिके रूपमें परब्रह्म मानना और ब्रह्मको 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि' मानना परस्पर व्याहत कल्पना है। किन्तु लेखिकाने इसमें कारण नहीं दिखलाया है । लेखिकाकी धारणा है कि मनुष्याकारमें ईश्वरकी कल्पना मनुष्यबुद्धिकी खुराफ़ात है । लेखिकाने इसी आधारपर यह क्यों नहीं कहा कि निर्गुण, निराकार, निर्विशेष ब्रह्मकी कल्पना इस खुराफ़ातकी केवल काल्पनिक या बौद्धिक प्रतिक्रिया है क्योंकि पूर्णस्वीकृतिका पूर्णविरोध भी विरोधमात्र ही होता है । उदाहरणतया जैसे संख्या लोकबुद्धिसापेक्ष है वैसे ही असंख्या—शून्य भी लोकबुद्धिसापेक्ष ही है । न केवल इतना ही अपितु आनुमानिक माननेपर तो ईश्वरमात्र चाहे वह मानवाकारमें हो या अमानवाकारमें या निराकार ही है इसी सादृश्यानुमानपर अवलम्बित कि दुनियामें एक ईश्वर होता है जैसे राजा या राष्ट्रपति, ऐसे ही दुनियाका भी एक होना

चाहिये । उसे सर्वशक्तिमान् इसलिए माना जाता है कि दुनियामें पहलवान होते हैं । उसे सर्वज्ञ इसलिए माना जाता है कि दुनियामें रिसर्चस्कॉलर (शोधच्छात्र) होते हैं । और इस सादृश्यपर दौड़ते हुए थकान लगी तो निराकार, निर्गुण, निर्धर्मक और निर्विशेष की कल्पना की गयी जिसके होने-न-होनेसे कोई अन्तर न रह जाये, कहनेको आस्तिकताका संस्कार भी पलता रहे और साथ-साथ नास्तिकता भी । ये सब प्रश्न मूलतः ईश्वरकी सत्तापर उठते हैं, सत्ता मान लेनेपर बाक़ीके प्रश्न या धर्म तो स्वतः आ जायेंगे । पर लेखिकाका अन्तर्द्वन्द्व मूल प्रश्नोंसे घबराता है अन्यथा कहनेको तो यह भी कहा जा सकता है कि मानवका असहाय शङ्कित मन ईश्वरकी कल्पना करता है और ईश्वरके सामर्थ्यसे आश्वस्त मन ईश्वरका मानवीकरण और तथाकथित श्रद्धामूलक बुद्धिवाद उसे अतिमानव बननेकी भ्रान्तिमें निराकार, निर्गुण, निर्धर्मक और निर्विशेष बनाता है । किन्तु यह सब आक्षेप अद्वैतियोंपर नहीं लागू होते क्योंकि वे ईश्वरको निराकार इसलिए नहीं मानते कि मानव अपना आकार ईश्वरपर आरोपित करता है किन्तु इसलिए कि श्रुतिका आशय उन्हें ऐसा प्रतीत होता है, वैसे ही जैसे कि श्रीवल्लभाचार्यको श्रीकृष्णकी 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिता ।' अतः ऊपर किया गया विश्लेषण अद्वैतियोंका नहीं किन्तु अद्वैतको आधुनिक विज्ञान एवं तर्ककी दुहाईपर पसन्द करनेवालोंका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है क्योंकि अद्वैतियोंके लिए तो इतना ही विश्लेषण पर्याप्त है कि **'यथाशब्दमिह भवितव्यम्'** (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य १।४।२७) और **'अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य ऋग्वेदादिशास्त्रस्य योनिः ।'** (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य १।१।३) ।

पृष्ठ सैंतीसपर लेखिकाने श्रुतिके **'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** (छान्दो० उप० ६।१।४) इत्यादि वाक्यको लेकर शाङ्करमतकी ओरसे वाल्लभमतका आलोचन किया है ।

लेखिकाके शब्दोंमें, "Here, however, a follower of Ś. will certainly want to ask (of the upholders of the Śuddhādvaita doctrine) for an explanation of "*eva*" used in the Vācārambhaṇa text under consideration. How can "*iti*" in presence of that restrictive particle "*eva*" be made by V. to yield so much extra sense as to go against the very core of the context-meaning of the whole passage ?—And why could not "*eva*" (even in conjunction with "*iti*") stand for the reality of the cause *alone*, in consonance with the context, the general purport and the meaning of the restrictive particle itself ?" (The Phil. of V. p. 37).

यहाँ श्रीशङ्कराचार्यके अनुयायी यह इसलिए नहीं पूछ सकते हैं कि,

(१) **'एव', 'इति'** शब्दके बाद आया है पहले नहीं, अतः वह **'इति'** से दिये गये अर्थका समर्थन करेगा न कि **'इति'** अपने बादमें आये हुए **'एव'** से अन्ययोगव्यावृत्त अर्थका । **'इति'**

शब्द प्रकारवाचक है अन्यथा क्रमको अस्त-व्यस्त करनेसे तो '**वाचारम्भणं नामधेयं मृत्तिका**' और '**विकार इत्येव सत्यम्**' इस प्रकारका अन्वय भी किया जा सकता है। इसलिए 'इति' के आधारपर 'एव' चलेगा न कि 'एव' के आधार पर 'इति'।

(२) शाङ्करव्याख्यामें 'इति' शब्द निरर्थक हो जाता है जबकि वाल्लभ व्याख्यामें एक भी पद निरर्थक नहीं होता।

(३) शाङ्करव्याख्या स्वीकार करनेपर सारे प्रकरणकी कोई सङ्गति ही नहीं रह जाती क्योंकि प्रकरण है 'एकविज्ञान' से 'सर्वविज्ञान' का और 'शुक्तिरजत' या 'रज्जुसर्प' के अद्वैतियोंको अभिमत उदाहरणमें शुक्ति या रज्जु से उनपर होनेवाले सारे भ्रमारोपोंका ज्ञान नहीं होता, बल्कि निवृत्त होता है।

(४) मृत्तिका-घट, नखनिकृन्तन-लौह इत्यादिके ये सभी उदाहरण परिणामवादी उदाहरण हैं, विवर्त्तवादी नहीं। फलतः इस स्थलपर स्वयं अद्वैतियोंको घटका 'मिथ्यात्व' अभिप्रेत नहीं है, कम-से-कम मृत्तिकाके सन्दर्भमें। क्योंकि अद्वैतियोंके मतमें सत्तात्रैविध्य है, (क) पारमार्थिकी सत्ता, (ख) व्यावहारिकी सत्ता और (ग) प्रातिभासिकी सत्ता। प्रथम सत्ताका लक्षण '**त्रिकालाबाध्यत्वं**' है, दूसरीका लक्षण '**ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व**' और तीसरीका '**ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व।**' यहाँ सुस्पष्ट रूपसे मृत्तिकाकी तरह घट भी '**ब्रह्मज्ञा-नेतराबाध्य**' है फलतः मृत्तिकाको लेकर उसे मिथ्या स्वयं अद्वैती ही नहीं मान सकते।

(५) जब आगे चलकर ज्ञानोपदेश किया गया है वहाँ '**इदं**' से दृश्यमान जगत्की वर्त्तमानकालिक सत्ताको निःसन्दिग्ध मानकर भूतकालमें उसकी सत्ताका होना बताया गया है और यह मिथ्या होनेपर सम्भव नहीं है क्योंकि मिथ्याकी सत्ता वर्त्तमानमें ही नहीं तो भूतकालमें तो उसकी सत्ताका प्रश्न ही नहीं उठता। और स्पष्टतः जो लोग वर्त्तमान दृश्यमान जगत्की सत्ता इसकी उत्पत्तिसे पूर्व नहीं मानते हैं उनका '**तदेक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत**' (छान्दो० उप० ६।२।१) इस पक्षको विरोधीमतके रूपमें रखकर और इसका '**कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दो० उप० ६।२।२) इत्यादि वाक्यके बलसे खण्डन करना निरर्थक और अव्याख्येय हो जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि इस सन्दर्भमें कार्यकारणका अभेद ही अभिप्रेत है न कि कार्यका मिथ्यात्व और कारणका एकत्व।

(६) यदि विकार मिथ्या है तो ब्रह्म उसका कारण ही नहीं सिद्ध होगा, अतः जिस कारणत्वको लेकर जगत्का मिथ्यात्व और ब्रह्मका सत्यत्व सिद्ध करना है वही सिद्ध नहीं होगा। ऐसी स्थितिमें जिस वाक्यसे कारणता आरही है उसी वाक्यसे कारणता दूर भी हो रही है तो कारण ही सत्य है और कार्य मिथ्या है यह अर्थ कहाँसे निकलेगा? ब्रह्मको स्वयं अद्वैती '**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते**' के आधारपर कारण ही नहीं मानते अतः ऐसे **कारणत्व** (?) को लेकर जगत्का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता। यदि

कारणत्व सत्य है तो ब्रह्म सधर्मक हो जायेगा और यदि कारणत्व मिथ्या है तो इस श्रुतिकी तो कोई सङ्गति ही नहीं रह जाती । ब्रह्मके कारण होनेका निरूपण करने वाली अन्य विभिन्न श्रुतियाँ भी असङ्गत हो जायेंगी ।

इसीलिए तो स्वयं लेखिकाने पृष्ठ चौदहपर कहा है, "If Br. as the creator, etc., were to signify only the lower Br. or the Īśvara, how could the Sūtrakāra, at the very start, define the object of the desire to know as one from whom origination, etc., proceed ? According to Ś., it is the qualified Br. that creates, and this lower Br. is associated with Māyā. If this were the intention of the author of the Sūtras, he would not have defined the highest object of attainment to be the "lower" Br. So, at the very outset, a clear and wide departure from the system of the sūtras is perceptible in Ś.'s system." (The Phil. of V.p. 14).

लेखिकाको तो Inner consistency (आन्तरिक सङ्गति या परस्परसंवादिता) का बहुत आग्रह है और हमें आशा है कि प्रामाणिकतासे इस स्थलपर लेखिका या तो अपनी inconsistency स्वीकार करेंगी या यह कि **'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** (छान्दो० उप० ६।१।४) इत्यादि वाक्यकी वाल्लभव्याख्यापर शाङ्कर पक्षसे प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है, क्योंकि सौभाग्यसे लेखिकाको भी यह ज्ञात है कि अद्वैत मतमें 'कारण ब्रह्म' सत्य नहीं किन्तु मायिक और मिथ्या है (इसीलिए तो यहाँ श्रीशङ्कराचार्य और लेखिका दोनों अपने-अपने लेखनमें 'clear and wide departure' कर गये हैं) जबकि लेखिका श्रीशङ्कराचार्यके स्वरमें स्वर मिलाकर कहना चाहती हैं कि **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** (छान्दो० उप० ६।१।४) में कारण ब्रह्म ही सत्य है, यह एक हास्यास्पद विडम्बना है ।

(७) इसके अलावा इसी प्रकरणमें आगे चलकर **"तदैक्षत बहु स्याम्"** (छान्दो० उप० ६।२।३) इत्यादि वाक्यमें यह कहा गया है कि ब्रह्म ईक्षणपूर्वक स्वयं बहुतसे रूप लेता है । अब यदि बहुत्व-नानात्व, कार्यत्व सब मिथ्या हों तो या तो द्वैतसृष्टिसे पूर्व भी ब्रह्ममें द्वैतापत्ति हो जायेगी या स्वयं ब्रह्म मिथ्या हो जायेगा ।

(८) ब्रह्मसूत्रकारने **'तन्मिथ्यात्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः'** न कहकर **'तदनन्यत्वम्'** कहा है अतः मिथ्यात्व यहाँ उनका विवक्षित नहीं है ।

(९) यहाँ मिथ्यात्वपरक अर्थ करनेके कारण इस चर्चाको करनेवाले अन्य सूत्रोंका अर्थ खींचतान कर निकालना पड़ता है । यह तो हमारी आपत्ति है, वैसे स्वयं लेखिकाने ही श्रीशङ्कराचार्यके 'कारण ब्रह्म' को मिथ्या माननेके मतको असौत्र बतलाया है

और यहाँ अर्थात् ब्रह्मसूत्रभाष्यके प्रकृत सन्दर्भमें कारणको सत्य माननेपर वही सङ्गत नहीं होगा।

(१०) इस अर्थको स्वीकार कर लेनेपर मिथ्यावादको खण्डित करने वाली अन्य अनेक श्रुतियों, स्मृतियों एवं युक्तियों का विरोध भी होगा।

हमने लेखिकाके 'एव' के ज़ोरपर सिद्ध होते मिथ्यात्वको श्रीवल्लभाचार्य कैसे भुला सकते हैं इस एक प्रश्नके दस उत्तर दिये हैं। लेखिका इन उत्तरोंमेंसे तीनके भी प्रत्युत्तर यदि दे दें तो हम मान लेंगे कि लेखिकाका यह कथन कि 'श्रीशङ्कराचार्यके अनुयायी वाल्लभ व्याख्यापर प्रश्न कर सकते हैं' सार्थक है। अन्यथा शाङ्करमतानुयायी चाहे जो भी प्रश्न पूछें लेखिकाको एक प्रश्न भी सोचनेका अधिकार नहीं है।

इस तरह 'सामान्य परिचय' (General Features) नामक द्वितीय परिच्छेदकी आलोचना यहाँ समाप्त होती है।

पञ्चम अध्याय

विशेषपरिचयालोचन

(तृतीय परिच्छेदकी समालोचना)

लेखिकाकी भ्रान्त धारणाएँ इस परिच्छेदके प्रथम पृष्ठसे ही बहुत स्पष्टतर होकर सामने आ रही हैं।

लेखिकाका कहना है कि श्रीवल्लभाचार्य श्रुति या शब्द को ब्रह्मके बारेमें एकमेव और प्रधान प्रमाण मानते हैं तथा अन्य प्रमाणोंका शब्दसे अविरोध होनेपर ही समादर करते हैं। श्रीशङ्कराचार्य भी शब्दको सर्वाधिक प्राथमिकता देते हैं किन्तु इसे व्यावहारिक सत्य ही मानते हैं, क्योंकि शब्द भी मिथ्या जगत्के अन्तर्भूत है, जबकि श्रीवल्लभाचार्य वेदको नारायणावतार मानते हैं। अपने मतकी पुष्टि करनेकी दृष्टिसे मत्स्यपुराणमें आये, **'अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्'** (मत्स्यपु० ११२।६) इस वचनकी शरण या इसका आश्रय लेते हुए श्रीवल्लभाचार्यने ब्रह्मसाक्षात्कारमें तर्कके पूर्णतया अनुपयोगी होनेका प्रतिपादन किया है और सम्भवतः इसी धार्मिक प्रतिबद्धता—जो श्रीवल्लभाचार्यकी कृतियोंमें श्रुतियोंके बारेमें दिखलाई पड़ती है—के कारण यौक्तिक सन्तोष देनेमें वाल्लभमत असमर्थ है।

वैसे तो हमने इसका जवाब प्रमाणमीमांसा करते हुए दिया ही है, किन्तु कुछ भ्रान्तियोंका क्षालन अब भी बाक़ी रह गया है, अतः पुनः लिखना पड़ रहा है।

(१) श्रीशङ्कराचार्य वेदोंको व्यावहारिक मानते हैं तावता वेदके प्रति उनका श्रीवल्लभाचार्यके बराबर धार्मिक आदर नहीं है ऐसा शाङ्कर विद्वान् नहीं मानते। लेखिकाकी यह भ्रान्त धारणा पर्याप्त अध्ययनके अभाव में पैदा हुई है।

(२) वेदके व्यावहारिक होते हुए भी उसके सभी-के-सभी वचन धर्म, ब्रह्म आदिके विषयमें तर्क, युक्ति आदि सभीकी अपेक्षा अधिक प्रमाणतम हैं इसमें श्रीवल्लभाचार्य और श्रीशङ्कराचार्य एकमत हैं; अतः इस स्थितिमें इस बातसे कोई अन्तर नहीं आता कि कोई वेदको नारायणरूप और अधिक मानता हो। यही कारण है कि वाल्लभमतके इस अंशपर शाङ्कर विद्वान्को आपत्ति नहीं हो सकती है।

(३) मत्स्यपुराणके **'अचिन्त्या खलु ये भावाः'** (मत्स्यपु० ११२।६) इत्यादि वाक्यका सहारा न केवल श्रीवल्लभाचार्य तर्ककी झंझटको दूर करनेके लिए लेते हैं किन्तु श्रीशङ्कराचार्य तो उनसे सदियोंपूर्व इसी उद्देश्यसे इसी वचनका सहारा लेते हैं (द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।१।६)।

(४) युक्तिका मतलब समझनेपर यौक्तिक सन्तोष किसका नाम है यह समझमें आ सकता है ।

अतएव चौवालीसवें पृष्ठपर जब लेखिका कहती हैं कि श्रीवल्लभाचार्यके ब्रह्मसूत्र-भाष्यमें कई जगह भागवतकी गन्ध आती है तो हमें गन्धसे निर्णय कर लेने वाली बुद्धि पर हँसी आती है । किन्तु लेखिकाकी धारणा है कि कोई भी वेदान्तका विद्यार्थी तुरत यह सूँघ-समझ सकता है कि इस गन्धका मूलस्थान उपनिषदोंमें न होकर कहीं अन्यत्र है । इस गन्धग्रहणकी पटुताकेलिए लेखिकाका अभिनन्दन करते हुए अब हम शाङ्करदर्शनके एक अन्य पक्षपर लेखिकाका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं । 'भागवत उपनिषद्बाह्य नहीं है' यह श्रीवल्लभाचार्यके श्रीशङ्कराचार्य प्रभृति सभी प्रतिवादी आचार्योंको मान्य है । किन्तु सांख्य, बौद्ध और चार्वाक मतको श्रीशङ्कराचार्यसेलेकर श्रीवल्लभाचार्यतकके सभी आचार्य वेदबाह्य मानते हैं । और शाङ्करदर्शनका मूल स्रोत इन तीनों मतोंमें है यह रामानुजमतके उद्भट विद्वान् श्रीवेदान्तदेशिकने प्रतिपादित किया है,

"**अन्तिमयुगवेदान्तिनामभिजन्मरहस्यं प्रकाशयामः,**
साङ्ख्यसौगतचार्वाकसङ्कराच्छङ्करोदयः ।
दूषणान्यपि तान्यत्र भूयस्तदधिकानि च ॥" (न्यायसिद्धाञ्जनम् ३।६८) ।

इसे टीकाकार बहुत सुन्दर शैलीसे समझाते हैं । वे कहते हैं कि सांख्यमतसे 'आत्माके कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म वास्तविक नहीं हैं, ज्ञातृत्व भी चिच्छायापत्ति और चित्सम्पर्क इत्यादिसे आत्मामें आता है, प्रकृतिकी तरह माया ही जगत्का उपादान है चेतन ब्रह्म नहीं', इत्यादि बातें ली गयी हैं । विज्ञानवादी बौद्धोंके '**स्तम्भादिप्रत्ययो मिथ्या प्रत्ययत्वाद्, यः प्रत्ययः स मृषा दृष्टो यथा स्वप्नादिप्रत्ययः**' का ही अनुवाद '**प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नवत्**' है । वहाँ जो काम 'वासना' करती है वह काम अद्वैतमें 'माया' या अविद्या को सौंपा गया है । इसी तरह चार्वाकोंके मतसे 'अहमर्थविनाश' को यहाँ 'मुक्ति' पद दिया गया है । और इन तीनों मतोंका मिश्रण बनाकर श्रुति, स्मृति और सूत्रों की व्याख्याका प्रयास किया गया है जिसे वेदान्तका विद्यार्थी भी समझ सकता है कि यह मत वेदबाह्य है । और विश्वास न हो तो स्वयं श्रीशङ्कराचार्यकी इन मतोंके खण्डनमें प्रयोगमें लायी गयी युक्तियोंको शाङ्करमतके उन-उन अंशों पर रखकर देखना चाहिये क्योंकि इन युक्तियोंसे वह स्वयं सिद्ध हो जाता है । और अब हम इसी प्रयोगका चमत्कार दिखायेंगे ।

ईक्षत्यधिकरणमें श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि सांख्यपरिकल्पित अचेतन प्रधान जगत्का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि श्रुतिसे वैसा सिद्ध नहीं होता । श्रुति स्पष्टतया कारणका 'ईक्षितृत्व' कहती है जैसा कि '**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय**' (छान्दो० उप० ६।२।३) श्रुतिसे स्पष्ट है । सांख्य दार्शनिक यह भी नहीं कह सकते कि 'ईक्षण' **गौण** हो सकता है, जैसे तटके टूटनेकी स्थितिमें 'तट टूटना चाहता है' ऐसा प्रयोग हो सकता है,

वैसे ही प्रकृति भी जब जगत्‌को आविर्भूत कर रही थी तब, 'प्रकृतिने जगत्‌को आविर्भूत करना चाहा' यह प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि इस प्रसङ्गमें 'आत्म' शब्दका प्रयोग किया गया है अतः **'ईक्षण'** को गौण नहीं माना जा सकता। और लोकमें गौण शब्दोंका प्रयोग होता है तावता शब्दमात्रगम्य अर्थमें गौण अर्थ करके काम नहीं चलाया जा सकता क्योंकि इस तरह तो सभी श्रुतियोंके गौण अर्थ करके कुछ-का-कुछ अर्थ निकाला जा सकता है। सांख्यके विरोधमें खड़ीकी गयी ये सारी युक्तियाँ शाङ्करमतका भी विरोध करती हैं। माया भी, प्रकृतिकी तरह जड़ है, अतः आत्मा शब्द मायाकेलिए प्रयुक्त नहीं हो सकता और मायाको कारण माननेपर केवल ब्रह्मको कारण मानने वाली श्रुतियोंका गौण अर्थ करना पड़ेगा जिससे सभी श्रुतियोंपर अनास्था हो सकती है।

इसी तरह श्रीशङ्कराचार्य **'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'** (ब्रह्मसूत्र २।२।२९) के भाष्यमें विज्ञानवादियोंके 'मिथ्यात्व' का खण्डन जिन युक्तियोंसे करते हैं उनकी शाङ्करमत पर भी उतनी ही मार है।

पृष्ठ पैंतालीसपर लेखिकाका कहना है कि श्रीवल्लभाचर्यका मत साम्प्रदायिक है। समझमें नहीं आता कि साम्प्रदायिक शब्दसे लेखिकाका क्या तात्पर्य है। यदि इसका अर्थ भागवतके आधारपर मतको खड़ा करना हो, तो उपनिषद्‌के आधारपर मत खड़ा करनेसे शाङ्करमतको भी क्यों न साम्प्रदायिक माना जाये ? उपनिषद्‌की भागवतानुसारी व्याख्या करनेसे सम्प्रदायपना आता हो तो भी दो सम्प्रदाय बन जायेंगे एक वह जो भागवतका सहारा लेता है और एक वह जो नहीं लेता। कृष्णको ब्रह्म माननेसे भी यही गति है। सम्प्रदाय प्रवर्तकको साम्प्रदायिक कहनेसे शाङ्करमत भी एक सम्प्रदाय ही बनेगा। वैसे स्वीकृत सन्दर्भमें साम्प्रदायिक होना कोई गाली नहीं है जैसाकि लेखिका समझती हैं। वैसे वाल्लभमत साम्प्रदायिक है कि नहीं यह निर्णय कर सकनेके लिए वाल्लभमतका ज्ञान अपेक्षित है और लेखिकाका अध्ययन इस सन्दर्भमें कितना है इसका प्रमाण इसी पृष्ठपर उपलब्ध है।

लेखिकाने बहुत असावधानी और जल्दबाज़ीमें रिसर्च की है और जहाँ पूर्वापरका विचार भी अपेक्षित नहीं है ऐसे स्पष्ट वाक्योंमें भी तिकड़मबाज़ीसे अर्थ निकाला है। लेखिकाने किसी दिन तत्त्वार्थदीपनिबन्धमें बाँचा होगा कि **'प्रमाणं तच्चतुष्टयम्'** और कभी निरुद्देश्य पन्ना पलटते हुए सुबोधिनीके **'भगवच्छास्त्रे भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयम्'** इस वाक्यपर निगाह पड़ गयी होगी, बस केवल एक इस 'चतुष्टय' शब्दके आधारपर लेखिकाने रिसर्च कर दी कि वाल्लभमत साम्प्रदायिक है; जबकि सुबोधिनी इस प्रकार है,

एवं वैदिकप्रकारेण चतुष्टयमुक्त्वा स्वसिद्धान्तानुसारेण चतुष्टयमाह, दिष्टचेति-चतुर्भिः। भगवच्छास्त्रे भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयम्। भगवत्साक्षात्कारः साक्षात्कृतो

वा भगवान् प्रमाणम् ।............दर्शनं प्रमाणमाविर्भावः प्रमेयमिति । (भाग० सुबो० १०।२।३८) ।

यहाँ पूर्वापर पंक्तियोंका अवलोकन किये विना भी वेदान्तका साधारण विद्यार्थी भी समझ सकता है कि 'प्रमाणादिचतुष्टय' का मतलब (१) प्रमाण (२) प्रमेय (३) साधन और (४) फल है न कि (१) वेद (२) गीता (३) ब्रह्मसूत्र और (४) भागवत । यदि विश्वास न हो तो इस तथ्यको उसके पहलेके छत्तीसवें श्लोककी सुबोधिनीसे समझा जा सकता है कि '**एवं प्रमाणप्रमेये वैदिकप्रकारेण भगवद्रूपेण भगवद्रूपे विचारिते । साधनं विचारयति न नामरूपे इति**........' यहाँ हम जो कह रहे हैं वही अर्थ है न कि अन्यथा, और लेखिका इसका अनुवाद करती हैं, 'V. says that the Lord himself represents all the four authoritative canons.' (The Phil. of V. p. 45). अर्थात् 'श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि स्वयं भगवान् चारों प्रस्थानों (वेद, ब्रह्मसूत्र, गीता और भागवत) का प्रतिनिधित्व करते हैं' और इस अज्ञान एवं भ्रमकी नींवपर लेखिकाने थीसिसका भवननिर्माण किया है कि श्रीवल्लभाचार्यका मत दर्शन नहीं किन्तु देवशास्त्र है ! धन्य रिसर्चस्कॉलर देव ! इसके बाद वाले ग्रन्थांश अर्थात् पृष्ठ छियालीस पर लेखिकाने वाल्लभमत और शाङ्करमतकी तुलनाकी है एवं शाङ्करमतकी वाल्लभमतसे विलक्षणता एवं श्रेष्ठता दिखलायी है कि शाङ्करमत देवशास्त्र नहीं किन्तु दर्शन है । हम निष्कर्षालोचनमें दिखला चुके हैं कि लेखिकाने न तो वाल्लभ, न शाङ्कर, न भारतीय दर्शन मात्रको ही आधारभूत रूपमें समझा है । न केवल इतना ही अपितु शाङ्करमतकी विलक्षणता एवं श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिए शाङ्करभाष्यमेंसे जो वचन उद्धृत किया है वह भी ऐसा जिसे श्रीशङ्कराचार्य स्वमत न मानकर दो सूत्रोंके बाद ही अपने भाष्यमें खण्डित करते हैं, और इस भ्रान्तिपर लेखिका उन्हें दार्शनिक मानती हैं । इसीलिए सैंतालीसवें पृष्ठपर लेखिकाने एक विचित्र युक्ति दी है कि यदि श्रीवल्लभाचार्य उपनिषदोंको प्रथम प्रमाण मानते हैं तो भागवतके आधारपर उनका अन्यथा व्याख्यान नहीं करना चाहिये अथवा पूर्वसन्देहवारकताकी प्रक्रिया ही छोड़ देनी चाहिये ताकि भागवत प्रथम प्रमाण न बन जाये ।

यह युक्ति उन्हें कदाचित् महत्त्वपूर्ण लगे जिन्हें मीमांसाके ज्ञानकी गन्ध भी न हो । मीमांसादर्शनका सर्वमान्य सिद्धान्त है कि विशेष वचनसे सामान्य वचनका बाध नहीं होता यदि स्पष्टतया विरोधी अर्थ भरा हो तो भी, तो अविरोधी या अप्रतिपादित विशेष अर्थ तो सामान्य अर्थका बाधक हो ही नहीं सकता ।

ऐसी स्थितिमें भागवतानुसारी उपनिषदर्थ अन्यथार्थ कैसे कहा जा सकता है ? यहाँ हम पहले ही कह चुके हैं कि लेखिका मानें या न मानें श्रीशङ्कराचार्यसे लेकर आज तककी बल्कि उनसे भी बहुत काल पूर्वसे लेकर आजतककी प्राचीन भारतीय परम्परामें

पुराणोंको प्रमाण ही माना गया है। जब पुराण भी प्रमाण हैं तो उनकी एकवाक्यता सभी आचार्योंको—जिनमें श्रीशङ्कराचार्य भी आ जाते हैं—करनी पड़ेगी। इस एक-वाक्यताके लिए सर्वस्वीकृत सिद्धान्त है 'सामान्य अर्थका विशेषसे बाध नहीं होता यदि अकथित या अविरोधी हो तो फिर सर्वथा नहीं।' सामान्यका सामान्यसे विरोध होनेपर भी या विशेषका विशेषसे विरोध होनेपर भी कई लोग सावकाश निरवकाशकी बातें उठाते हैं परन्तु श्रीवल्लभाचार्यका निश्चित सिद्धान्त है कि अलौकिकार्थज्ञापकत्वेन प्रथम प्रमाण वेद हैं तथापि सन्देहवारकत्वेन अर्थज्ञापकता इतर तीनोंमें भी है ही, अतः वे कहते हैं, '**एतच्चतुष्टयमेकवाक्यतापन्नं (सत्) प्रमाजनकम्**' (शास्त्रार्थप्र० प्र० ७)। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वे इतर तीनोंका अनुवादरूप अप्रामाण्य नहीं मानते हैं क्योंकि शेष तीनों सन्देहवारक हैं। विभिन्न प्रस्थानोंकी एकवाक्यता तो इतर आचार्यों विशेषतः श्रीशङ्करा-चार्यको भी अभीष्ट ही है। अब यह आधारभूत तथ्य भी जब लेखिकाको ज्ञात नहीं हो तो दर्शनकी अन्य गम्भीर बातोंको करनेका कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता है।

बावनवें पृष्ठपर लेखिका जब 'तत्त्वमसि' का अन्यथा अर्थ दिखलानेके लिए शाङ्कर व्याख्याकी वकालत करती हैं तो पढ़ते वक्त आश्चर्य होता है कि '**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**' में '**एव**' कारके स्वारस्यकी संरक्षिका सम्पूर्ण वाक्यका स्वारस्य छोड़नेको उद्यत हैं!

छप्पनवें पृष्ठपर लेखिकाका कहना है कि श्रीवल्लभाचार्य इस कठिनाईको अनुभव करते हैं कि परिणामवादमें अपरिवर्तनीय मृत्तिका परिवर्तनीय घट कैसे बन सकती है, अतः वे कहते हैं कि परिवर्तन घटका धर्म है मृत्तिकाका नहीं। लेखिकाकी युक्तियोंकी माँग है कि वास्तविक परिवर्तनशील घट अपरिवर्तनीय मृत्तिकाका कार्य कैसे हो सकता है?

हमारी युक्तियोंकी कुछ और ही माँगें हैं। श्रीशङ्कराचार्यके मतमें माया अनादि है; वह सादि जगत्का कारण कैसे हो सकती है? माया प्रमाता जीवका अज्ञान नहीं है क्योंकि ब्रह्मके अज्ञानसे आवृत होनेपर प्रमातृत्व बनता है अतः प्रमाताकी ब्रह्मज्ञानात्मिका प्रमासे (अहंब्रह्मास्मिवृत्त्यात्मकज्ञानसे) माया कैसे निवृत्त हो सकती है? और यह न होनेपर जगत्का बाध नहीं होगा और फलतः मिथ्यात्व भी सिद्ध नहीं होगा, और इसके परिणामस्वरूप माया सिद्ध नहीं होगी, फलतः वास्तविक जगत् ब्रह्ममात्रका वास्तविक परिणाम क्यों नहीं रह जायेगा?

ये हमारी युक्तियोंकी माँगें हैं। शायद लेखिका इन माँगोंकी पूर्ति करें। वस्तुतः तो इसका उत्तर अद्वैतशास्त्रमें वेदान्तपरिभाषा भी पढ़ी होती तो मिल जाता कि उपादान-कारण और उपादेय कार्य में भी सर्वांशसाजात्य तो नहीं ही होता है, '**न हि उपादानो-**

पादेययोरत्यन्तसाजात्यं तन्तुत्वपटत्वादिना वैजात्यात्' (वेदान्तपरिभाषा, अनुपलब्धि-परिच्छेदः, पृष्ठ २७६) । वैसे मृद्घटके बीच शाङ्करमतमें भी परिणामवाद ही माना जाता है विवर्तवाद नहीं ।

पृष्ठ साठपर लेखिकाका कहना है कि श्रीवल्लभाचार्य श्रीशङ्कराचार्यको मायावादी होने मात्रसे प्रच्छन्नबौद्ध कहते हैं, परन्तु लेखिका अद्वैतसिद्धि[1] तथा खण्डनखण्डखाद्य का अवगाहन कर (!) कहती हैं कि 'यह स्पष्ट है कि शून्यवादी बौद्धसिद्धान्त एवं केवलाद्वैत में मौलिक भेद है क्योंकि शून्यवाद सभी वस्तुओंका निषेध करता है (!) जबकि मायावाद एक परमार्थवस्तु ब्रह्म स्वीकार करता है[2] ।'

यहाँ वाल्लभमतकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि स्वयं लेखिकाको जब यह ज्ञात है कि श्रीशङ्कराचार्यको मायाके सिद्धान्तके कारण 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा जा रहा है तो शून्यवादको बीचमें लानेका प्रयोजन क्या है, वह भी शून्यवादको ग़लतरूपमें देखते हुए । क्या बौद्ध केवल शून्यवादको ही मानते हैं, विज्ञानवादको नहीं ? मायावादके कारण प्रच्छन्नबौद्ध कहा जा रहा है न कि शून्यवादके कारण । फलतः मायावादके आधारपर जो धारणायें उठती हैं उनमें और बौद्धमत में वैलक्षण्य दिखलानेपर यह समानता हटायी जा सकती है, किसी एक परमार्थवस्तुकी स्वीकृतिके वैलक्षण्यसे नहीं, क्योंकि यह तथ्य तो विना अद्वैतसिद्धिका अध्ययन किये भी ज्ञात हो सकता है कि श्रीशङ्कराचार्य अपने आपको शून्यवादी नहीं किन्तु ब्रह्मवादी कहते हैं । किन्तु हम जो अब यहाँ सिद्ध करेंगे या करना चाहते हैं वह तो यह है कि एक परमार्थवस्तु ब्रह्मको स्वीकार करते हुए भी श्रीशङ्कराचार्यका ब्रह्म बौद्धोंके शून्यसे बहुत दूर नहीं है, बल्कि उसका नामान्तर मात्र है। परन्तु इससे भी पहले स्वीकृत सन्दर्भको लेकर आशय स्फुट करना हमारा प्रथम कर्तव्य है । और इससे भी पहले कुछं खण्डनखण्डखाद्यकी दुहाईका विचार करेंगे ।

यद्यपि खण्डनखण्डखाद्यकार कहते हैं—'**एवं च सति सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषः यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति**·······**विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं सदसद्भ्यां विलक्षणं**

1. इस सन्दर्भमें द्वितीय मिथ्यात्वप्रकरणमें अद्वैतसिद्धिकी सिद्धिव्याख्या (पृष्ठ १४०-१४२) का यह विधान द्रष्टव्य है, 'इदमुपलक्षणं, वस्तुतो ब्रह्मभिन्ने शून्यवादिभिरस्माकं साम्यमिष्टमित्यपि ध्येयम्।'

2. But as it is clear from the writings of Ś.'s followers such as 'Advaitasiddhi,' 'Khaṇḍana-Khaṇḍa-Khādya', etc., there is a fundamental demarcation between the Buddhist doctrine of Void ("Śūnya") and the Absolute Monism of Ś., since the former is tantamount to negation of everything while the latter maintains the Supreme Reality of One principle, viz. Br. (The Phil. of V. p. 60).

ब्रह्मवादिनः सङ्गिरन्ते।' (खण्डनखण्डखाद्य, पृष्ठ ४२-४३)। किन्तु जब प्रारम्भमें ही श्रीहर्ष, '**सोऽयमपूर्वः........वाक्स्तम्भनमन्त्रो भवताभ्यूहितः नूनं यस्य प्रभावाद् भगवता सुरगुरुणा लोकायतकानि सूत्राणि न प्रणीतानि तथागतेन मध्यमागमाः नोपदिष्टाः भगवत्पादेन वा बादरायणीयेषु सूत्रेषु भाष्यं नाभाषि**' (खण्डनखण्डखाद्य, पृष्ठ ४) तीनोंको एक कोटिमें रखकर शून्यवादसाधक युक्तियाँ भी देते हैं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ इन मतोंमें कुछ विचारयात्राके आरम्भबिन्दुमें ही भेद है, गन्तव्यमें नहीं। किन्तु यह स्पष्ट है कि इतने मात्रसे अद्वैतीको प्रच्छन्न बौद्ध नहीं कहा जा सकता है, अतः अब जिन युक्तियोंसे प्रच्छन्नबौद्धता सिद्ध हो वे देनी चाहिये।

(१) खण्डनकार द्वारा दी गयी इस समानशीलतासे जैसे प्रच्छन्नबौद्धता सिद्ध नहीं होती वैसे ही शून्यवादी और अद्वैतियों में दिखलायी गयी विलक्षणतासे प्रच्छन्नबौद्धता दूर नहीं होती है क्योंकि हम कह चुके हैं कि यह आक्षेप मायाके सिद्धान्तको लेकर है ऐसा लेखिका भी मानती हैं। ऐसी स्थितिमें मायाके सिद्धान्तको परखनेसे ही ज्ञात होगा कि इस आक्षेपमें कितना वज़न है और कितना नहीं।

मायाके सिद्धान्तका पहला फल है जगत्का मिथ्या होना, दृश्यमान अस्तित्वकी प्रतीतिका भ्रमरूप होना एवं किसी-न-किसी रूपमें ज्ञानसे अतिरिक्त ज्ञेयकी सत्ताको अस्वीकार करना। यह सभी बातें बौद्धोंको स्वीकार हैं और अद्वैतियोंको भी। अब चाहे एक परमार्थवस्तु ब्रह्म स्वीकार किया जाये या नहीं। तुलना यहाँ अन्य दिशासे की ही नहीं जा रही है। यहाँ शून्यवादी बौद्धोंका उतना सन्दर्भ नहीं है जितना विज्ञानवादियोंका, क्योंकि विज्ञानवादी बौद्ध ही जगत्को मिथ्या मानता है—'**ये ये प्रत्ययास्ते ते निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वाप्निकप्रत्ययवत्**' अर्थात् दृश्यमान बाह्य अस्तित्वकी ज्ञानसे अतिरिक्त अस्वीकृति तथा प्रतीतिका भ्रान्तिके उदाहरणसे समर्थन। जहाँतक एक परमार्थ वस्तु ब्रह्मके सत् होनेका प्रश्न है तो विज्ञानवादी भी ज्ञानको परमार्थसत्य मानता है।

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
बाह्योऽर्थः सांवृतं सत्यं चित्तमेकमसांवृतम्॥
बाह्यरूपतयाभाति तच्चित्तं परमार्थसत्।
संवृतिग्राहि किंवान्यद्यदि चित्तं च सांवृतम्॥
जगदान्ध्यं प्रसज्येत तस्मात् तन्मात्रमिष्यते।
तत्तु चित्तं स्वसंवेद्यं स्वेनैव स्वप्रकाशनात्॥

गायकवाड़सीरीजमें प्रकाशित तत्त्वसंग्रहकी भूमिका के पृष्ठ १३ से उद्धृत इन श्लोकोंकी तुलना श्रीशङ्कराचार्यके जगत्के व्यावहारिक या प्रातिभासिक सत्य—मिथ्या—और ब्रह्मके परमार्थसत होनेके सिद्धान्तसे तथा इन श्लोकोंमेंकी चतुर्थ

पंक्तिकी तुलना '**नेति नेति**' के सन्दर्भमें दी जाती युक्तिसे कीजिये। विज्ञानवाद और अद्वैत-वाद में भेद ग्रहण करना कठिन है यह केवल हम कहते हों यह बात नहीं किन्तु स्वयं प्रखर बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित तत्त्वसंग्रहमें इस तथ्यको भलीभाँति समझाकर कहते हैं;

> **नित्यज्ञानविवर्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकः।**
> **आत्मा तदात्मकश्चेति** सङ्गिरन्तेऽपरे **पुनः॥** (तत्त्वसं० ३२८)।
> **अपर इति औपनिषदिकाः।** (तत्त्वसं० पञ्जिका ३२८)।
> **तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः।** (तत्त्वसं० ३३०)।

अर्थात् ज्ञानको हम भी और अद्वैती भी परमार्थसत् मानते हैं। जगत्का व्यावहारिक या प्रातिभासिक सत्य अर्थात् मिथ्या होना भी हम दोनोंको सम्मत है और विज्ञानका स्वयंप्रकाश होना भी। जहाँ थोड़ासा विवाद है वह इस अंशमें कि अद्वैती ज्ञानको नित्य मानते हैं और हम अनित्य। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि एक परमार्थसत् वस्तु तो बौद्ध भी मानता ही है अद्वैतियोंकी तरह। अतः लेखिकाके दिये हुए बचावसे श्रीशङ्कराचार्य नहीं बचते। हाँ इस आधारपर बच सकते थे कि किन्हीं दो मतोंमें एक समान सिद्धान्तके होनेसे उनमेंसे एकको प्रच्छन्न रूपसे दूसरेका मानने वाला नहीं कहा जा सकता। यहाँ शाङ्करमत इस प्रधान अंशमें विज्ञानवादका पड़ोसी है और पड़ोसी होने मात्रसे उसे प्रच्छन्न बौद्ध नहीं कहना चाहिये, क्योंकि कोई भी मत अपनी रुचिके अनुसार किसी भी मतके पड़ोसमें रह सकता है। परन्तु यहाँ इसे 'प्रच्छन्नबौद्ध' इसलिए कहा जा रहा है कि बौद्धोंके उक्त सिद्धान्तका स्वयं श्रीशङ्कराचार्य '**वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्**' (ब्रह्मसूत्र २।२।२९) के भाष्यमें '**तत्रैवं सति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिः उपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवद्**' इत्यादि वाक्योंसे खण्डन भी करते हैं और इसी सिद्धान्तको "**तस्मात् स्वप्ने मृषाध्यारोपिता एवात्मभूतत्वेन लोका अविद्यमाना एव सन्तस्तथा जागरितेऽपीति प्रत्येतव्यम्**" (बृह० उप० शाङ्करभाष्य २।१।१८) आदि कह कर, मायाकी ओटमें स्वीकार भी करते हैं। ऐसी स्थितिमें कुछ छिपी हुई चाल श्रीवल्लभाचार्यको स्पष्ट दिखाई देती है और वे विधान करते हैं कि मायावादी तो छिपे हुए बौद्ध हैं—छिपे हुए इसलिए कि वे जिस मतका खण्डन करते हैं वही स्वयं उनका भी मत है। और हैं तो बौद्धोंकी तरह स्पष्ट क्यों नहीं कहते कि '**तेषामल्पापराधं तु दर्शनम् अनित्यतोक्तितः।**' अनभिमत अंश यहाँ विज्ञानकी अनित्यता है न कि जगत्की असत्यता, फिर व्यर्थ ही 'जगत्को मिथ्या नहीं कह सकते' यों बौद्धोंसे झगड़नेसे क्या लाभ? वेदान्त कोई विजिगीषुकी 'जल्पकथा' नहीं है। यह तो तत्त्व-विचारके लिए किया गया 'वाद' है। फिर यह युक्तिबलसे बौद्धोंको जीतनेकी स्पृहा क्यों? आखिर वह भी तो यह पूछ सकता है कि यदि ये युक्तियाँ अनुत्तरणीय हैं तो शाङ्करमत स्वयं अपनी ही युक्तियोंसे कटता है और यदि ये युक्तियाँ कमजोर हैं तो बौद्धमत सिद्ध हो जायेगा। अतएव बीचमें श्रीवल्ल-

भाचार्य कहते हैं कि भाई ये तो तुम्हारे ही दोस्त हैं ! **'समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ।'** 'तर्कके आधारपर जगत्का मिथ्या स्वप्नतुल्य होना सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि दिये जाने वाले तर्क प्रबल नहीं हो सकते हैं किन्तु श्रुति तो प्रमाण है अतः प्रमाणपरवश होकर स्वीकार करना पड़ता है', यह बचाव भी तभी सङ्गत होगा जब इन मिथ्यात्वविरोधी युक्तियोंसे विरोध रहनेपर भी श्रुतिकी ही महत्ता रहे, परन्तु लेखिकाके अनुसार यह स्थिति बन नहीं सकती और श्रुति वचनोंकी सङ्गति तो हम मिथ्यावादसे माननेको उद्यत ही नहीं हैं । यहाँ तक तो प्रकृतसन्दर्भमें विज्ञानवादके आधारपर प्रच्छन्नबौद्धता दिखलायी गयी अब हम लेखिकाके सन्तोषके लिए शून्यवादसे तुलना करके भी प्रच्छन्नबौद्धता सिद्ध करना चाहते हैं ।

लेखिकाको भ्रान्ति है कि शून्यवाद प्रायः प्रत्येक वस्तुको अस्वीकार करता है जबकि मायावाद एक परमार्थसत् ब्रह्मको स्वीकार करता है अतः इन दोनों मतोंमें मौलिक अन्तर है । लेखिका समझती हैं कि शून्य शायद गणितका शून्य है, किन्तु वस्तुस्थिति सर्वथा यही नहीं है क्योंकि उसके लिए तो असत् इत्यादि शब्द हैं जबकि शून्य चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त माना गया है;

'न सन्नासन्न सदसत् न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः ।' (अद्वयवज्रसंग्रह, पृष्ठ १९) ।

अर्थात् यह शून्य न तो सत् है और न असत्, न सदसद्रूप और न अ-सद्-असद्रूप ही, किन्तु इन अनुभूतियोंमें आनेवाले विकल्पोंसे ऊपर कोई अवस्था है, ठीक वैसे ही जैसे अद्वैतियोंका ब्रह्म जो निर्गुण, निराकार, विधर्मक और निर्विशेष होनेके कारण सारे प्रमाणानुभवका यथार्थतः अविषय है । इस ब्रह्मको यद्यपि परमार्थसत् कहा गया है किन्तु सामान्य अर्थोंमें ब्रह्मका अस्तित्व नहीं है क्योंकि वह भी एक धर्म है और मिथ्या वस्तुओंको देखते हुए एक विशेष भी फिर वह निर्धर्मक और निर्विशेष कैसे रह जायेगा ? उसे असत् तो स्वयं अद्वैती ही नहीं मानते और न सद्-असद्रूप ही । जहाँतक 'अनुभयात्मक' होनेका प्रश्न है तो लेखिकाको सम्भवतः ज्ञात होगा कि जिसे बौद्ध विद्वान् अनुभयात्मक कहते हैं वही अद्वैतमें मिथ्या है, अतः ब्रह्म तो मिथ्या भी नहीं । फलतः रह गया चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त (शून्य) तत्त्व । हम कह चुके हैं कि बौद्धोंके मतमें भी यह शून्य अभावरूप नहीं है जिससे ब्रह्मको अभावरूप माननेकी आपत्ति उठ खड़ी हो । अतः इस आधारपर अद्वैतियोंका ब्रह्म भी बौद्धोंके शून्यसे लिया गया तत्त्व है । वैसे शून्यको भी स्वीकार करना तो बुरी बात नहीं है, किन्तु ऐसी स्थितिमें अपने आपको शून्यवादी न मानना अवश्य बुरी बात है ।

यह तो हमने अपनी ओरसे पदार्थके चिन्तनके आधारपर कहा है । जहाँतक भाषाका प्रश्न है तो माण्डूक्योपनिषत्कारिका और उसके शाङ्करभाष्य का मूड देखने लायक़ है ।

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥
कोटचश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥ (माण्डूक्यकारिका ४।८३-८४) ।

इन कारिकाओंपर भाष्य लिखते हुए श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि, '**स भगवानाभिरस्तिनास्तीत्यादिकोटिभिश्चतसृभिरप्यस्पृष्टोऽस्त्यादिविकल्पनावर्जित इत्येतद्येन मुनिना दृष्टो ज्ञातो वेदान्तेष्वौपनिषदः पुरुषः स सर्वदृक्सर्वज्ञः परमार्थपण्डित इत्यर्थः ।**' (माण्डूक्यकारिकाभाष्य ४।८४) । हम इसकी तुलना अधोलिखित बौद्धवचनोंसे करें और देखें क्या दृष्टिगोचर होता है ।

प्रत्ययोत्पादिते ह्यर्थे नास्त्यस्तीति न विद्यते ।
प्रत्ययान्तर्गतं भावं ये कल्पेन्त्यस्ति नास्ति च ।
दूरीभूता भवेन्मन्ये शासनात्तीर्थदृष्टयः ॥ (लङ्का० १०।१६८) ।
मा शून्यतां विकल्पेथ मा शून्यमिति वा पुनः ।
नास्त्यस्तिकल्पनैवेयं कल्प्यमर्थं न विद्यते ॥ (लङ्का० १०।४४०) ।
गुणाणुद्रव्यसङ्घाते रूपं बालैर्विकल्प्यते । (लङ्का० १०।४४१) ।
तथा भावविकल्पोऽयं मिथ्या बालैर्विकल्प्यते ॥ (लङ्का० १०।७९) ।
अस्तीति नास्तीति च कल्पनावतामेवं चरन्तान न दुःख शाम्यति ।
(समाधिराजसूत्र ९।२६) ।

अतएव जब श्रीशङ्कराचार्य दशश्लोकीमें "**न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात् कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि**" कहते हैं तो मधुसूदन सरस्वतीने यही शङ्का उठायी है कि ब्रह्ममें सभी धर्मोंका निषेध होनेपर ब्रह्म भी शून्यरूप होगा, अतः श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म शून्य इसलिए नहीं है कि श्रुतिमें उसका होना कहा गया है । किन्तु इस 'होनेसे' वह सधर्मक इसलिए नहीं हो जाता क्योंकि उससे अशून्य होना भी नहीं बनता । श्रीशङ्कराचार्य पूछते हैं—'**कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि**', क्योंकि ब्रह्म तो न शून्य है और न अशून्य । परन्तु नागार्जुनके मध्यमकशास्त्रकी व्याख्यामें चन्द्रकीर्ति विना झिझकके कहते हैं कि '**अतो वयमपि आरोपतो व्यवहारसत्ये एव स्थित्वा व्यवहारार्थं विनेयजनानुरोधेन शून्यमित्यपि ब्रूमः, अशून्यमित्यपि, शून्याशून्यमित्यपि, नैव शून्यं नाशून्यमित्यपि ब्रूमः ।**' (प्रसन्नपदा २२।११) और इसी तरह, '**न शून्यं नापि चाशून्यं तस्मात्सर्वं विधीयते**' (प्रसन्नपदा २२।१२) । वैसे सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धोंके शून्यके लक्षणमें जो सत् और असत् पद आये हैं उनके दो अर्थ हो सकते हैं । (१) सत् = भाव एवं असत् = अभाव तथा (२) सत् = त्रिकालाबाध्य एवं असत् = प्रतीतिके अयोग्य ।

प्रथम अर्थ—जिसे स्वीकारकर दर्शनोदयकार लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्य, '**अस्मिन् पद्ये असत्पदं नैयायिकसम्मताभावपरं न तु स्वसम्मताभावपरम्। अन्यथा असदेव अभावरूपं तत्त्वमिति** सिद्धान्तविरोधप्रसङ्गः' (दर्शनोदयः, पृष्ठ २४) कहकर शून्यको निषेधात्मक मात्र सिद्ध करना चाहते हैं—ग्रहण करें तो ऐसी स्थितिमें सत्का अर्थ भी सधर्मक सत्—अस्तित्वधर्मवान् लेना पड़ेगा। फलतः निर्धर्मक ब्रह्म न सत् होगा और न असत्, न सदसत् और न अनुभयात्मक; अतः वह शून्य सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि ब्रह्म सत् है परन्तु उसमें उत्पत्तिस्थिति आदि भावविकार नहीं हैं और न उसमें धर्मरूप सत्ताकी कल्पना है। इस तथ्यका समर्थन मध्यमकशास्त्र (२५।३) की प्रसन्नपदामें उद्धृत नागार्जुनकी आर्य-रत्नावलीके इस पद्यमें मिलता है।

न चाभावोऽपि निर्वाणं कुत एवास्य भावना।
भावाभावपरामर्शक्षयो निर्वाणमुच्यते ॥ (प्रसन्नपदा २५।३ में उद्धृत)।
भावस्तावन्न निर्वाणं जरामरणलक्षणम्।
प्रसज्येतास्ति भावो हि न जरामरणं विना ॥ (मध्यमकशास्त्र २५।४)।

इस श्लोककी प्रसन्नपदामें चन्द्रकीर्ति स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं '**अस्ति भावो हि न जरामरणं विनेति। यो हि जरामरणरहितः स भाव एव न संभवति, खपुष्पवत्, जरामरणरहित्वात्,**' '**भावस्य जरामरणलक्षणाव्यभिचारित्वात्**' (प्रसन्नपदा २५।४)। स्पष्टरूपसे ब्रह्म जरामरण-रहित होनेके कारण 'भाव' नहीं है और न अभावरूप ही क्योंकि नैयायिकोंके अभावकी कल्पना भावकी कल्पनाके विना नहीं की जा सकती। फलतः ब्रह्मप्राप्ति शून्यरूप निर्वाण-की प्राप्ति मानी जा सकती हैं किन्तु अवधूत अद्वयवज्र द्वारा लिखित तत्त्वरत्नावलीमें,

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥

यह वचन मायोपमाद्वयवादी माध्यमिकों का माना गया है और 'सत्' एवं 'असत्' पद का वह अर्थ किया गया है जिसे हमने ऊपर द्वितीय अर्थ कहा है। ऐसी स्थितिमें शून्यका मतलब 'असत्' नहीं रह जाता क्योंकि उसका तो निषेध ही है। यह असत्का निषेध नैयायिकोंके अभावका है यों नहीं माना जा सकता क्योंकि नैयायिकोंके मतमें अभाव प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय होता है और शाङ्करमतमें तो अनुपलब्धिको भी प्रमाण माना गया है जबकि यहाँ असत्का निषेध इसलिए किया जा रहा है कि प्रतीति है अर्थात् सिद्ध हुआ कि यहाँ 'असत्' से सर्वथा प्रतीतिका अविषय तुच्छ विवक्षित नहीं है। अद्वय-वज्रकार कहते हैं, '**न सद् बाधायोगाद्, असदपि न चाभासनवशात्।**' अतः इसे सर्वथा शून्य (Void) मानना उतना सरल नहीं है जितना लेखिका समझ रही हैं। लेखिका कहती हैं कि, 'The former is tantamount to negation of everything'

(The Phil. of V. p. 60) अर्थात् शून्यवादमें पदार्थमात्रके अस्तित्वका निषेध किया गया है । किन्तु मध्यमकशास्त्र कहीं इसीके जवाब में तो नहीं कहता है कि,

अत्र ब्रूमः शून्यतायां न त्वं वेत्सि प्रयोजनम् ।
शून्यतां शून्यतार्थं च तत एवं विहन्यसे ॥ (मध्यमकशास्त्र २४।७) ।

कर्मक्लेशक्षयान्मोक्षः कर्मक्लेशा विकल्पतः ।
ते प्रपञ्चात्प्रपञ्चस्तु शून्यतायां निरुध्यते ॥ (मध्यमकशास्त्र १८।५) ।

अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम् ।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत्तत्त्वस्य लक्षणम् ॥ (मध्यमकशास्त्र १८।९) ।
यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे ।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा ॥ (मध्यमकशास्त्र २४।१८) ।

व्याख्याकार चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि, '**एवं प्रतीत्यसमुत्पादशब्दस्य योऽर्थः स एव शून्यताशब्दस्यार्थः, न पुनरभावशब्दस्य योऽर्थः स शून्यताशब्दार्थः । अभावशब्दार्थं च शून्यतार्थमित्यध्यारोप्य भवानस्मानुपालभते । तस्माच्छून्यताशब्दार्थमपि न जानाति । अजानानश्च त्वमेवमुपालम्भं कुर्वन् नियतं विहन्यसे ।**' (प्रसन्नपदा २४।७) । और चन्द्रकीर्ति तो व्याख्याकार हैं कह सकते हैं पर यदि श्रीशङ्कराचार्य भी कह दें कि,

अस्तीति प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि ।
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः ॥ (विवेकचूडामणि ५७३)

न सच्चाहं न चासच्च नोभयं केवलः शिवः । (उपदेशसाहस्री अचक्षुष्ट्वप्रकरण श्लोक २०) तो मुझे लगता है कि वही, '**तेषाम् अल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः ।**' सम्भवतः शून्य और ब्रह्म में थोड़ा बहुत अन्तर आ सकता है । अतएव '**वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्**' (ब्रह्मसूत्र २।२।२९) के अनुव्याख्यानमें श्रीमध्वाचार्य कहते हैं,

यच्छून्यवादिनः शून्यं तदेव ब्रह्म मायिनः ।
न हि लक्षणभेदोऽस्ति निर्विशेषत्वतस्तयोः ॥

वैसे शून्यके स्वरूपके बारेमें प्रज्ञापारमिताका यह वाक्य भी देखने योग्य है, '**न रूपशून्यतया रूपं शून्यम्, रूपमेव शून्यम्, शून्यतैव रूपम् । न वेदनाशून्यतया वेदना शून्या, वेदनैव शून्या, शून्यतैव वेदना । न संज्ञाशून्यतया संज्ञा शून्या, संज्ञैव शून्या, शून्यतैव संज्ञा । न संस्कारशून्यतया संस्काराः शून्याः, संस्कारा एव तु शून्याः, शून्यतैव तु संस्काराः । न विज्ञानशून्यतया विज्ञानं शून्यम्, विज्ञानमेव तु शून्यम्, शून्यतैव विज्ञानम् ।**' अर्थात् शून्य वस्तुका स्वभाव है, वस्तुका वस्तु होना ही शून्यता है न कि वस्तुका होना या न होना या होना और न होना भी या न होना और न न-होना । वस्तु केवल वस्तु है और कुछ नहीं । और यही तो अद्वैतियोंके ब्रह्मका भी स्वरूप है—वह है परन्तु उसका होना

नही माना जाता क्योंकि वह परमार्थसत् है। उसमें सत्ता नहीं है, निर्धर्मक होने से। उसका बाध नहीं होता इतना भर पर्याप्त है, या फिर ब्रह्म ब्रह्म ही है—घट नहीं, पट नहीं, रूप नहीं, परिमाण नहीं 'नेति-नेति' और न नहीं ही है, क्योंकि है। मगर क्या है? जी हाँ वह है, ब्रह्म ही है और कुछ नहीं या फिर शून्य ही है क्योंकि वह भी तो 'है' और 'नहीं है' के सम्भावित विकल्पोंके जंजालसे ऊपर शान्त समरस सर्वदा नित्य है। कहनेमें तो बौद्ध और शाङ्कर दोनों मतोंमें द्वैतका सहारा लेना पड़ता है किन्तु बुद्ध या मुक्त को तो कहनेकी आवश्यकता भी नहीं, **'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।'** इस सन्दर्भमें यह बौद्ध विधान शून्यताके स्वरूपको समझानेमें सहायक होगा। **'अथ केयं धर्माणां धर्मता? धर्माणां स्वभावः। कोऽयं स्वभावः? प्रकृतिः। का चेयं प्रकृतिः? शून्यता। केयं शून्यता? नैस्वाभाव्यम्। किमिदं नैस्वाभाव्यम्? तथता। केयं तथता? तथाभावोऽविकारित्वं सदैव स्थायिता। सर्वदानुत्पाद एव ह्यग्न्यादीनां परनिरपेक्षत्वादकृत्रिमत्वात्स्वभाव इत्युच्यते।'** (प्रसन्नपदा १५।२)।

इससे भी सिद्ध होता हैं कि शून्य सर्वथा निषेधमात्र ही नहीं हैं। अतएव मध्यमकशास्त्रकी प्रसन्नपदावृत्ति (२४।७) में शून्यताका जो प्रयोजन दिखाया गया है वह नित्यशुद्धबुद्धमुक्त ब्रह्मसे बहुत दूर नहीं है। **'अतो निरवशेषप्रपञ्चोपशमार्थं शून्यतोपदिश्यते। तस्मात्सर्वप्रपञ्चोपशमः शून्यतायां प्रयोजनम्। भवांस्तु नास्तित्वं शून्यतार्थं परिकल्पयन् प्रपञ्चजालमेव संवर्धयमानो न शून्यतायां प्रयोजनं वेत्ति। अथ का पुनः शून्यता? सापि तत्रैवोक्ता,**

> **अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।**
> **निर्विकल्पमनानार्थमेतत्तत्त्वस्य लक्षणम्॥** (मध्यमकशास्त्र १८।९) **इति।**

यहाँ **'स्वप्रकाशम्'** और **'अपरप्रत्ययम्'** अद्वैती और माध्यमिक द्वारा प्रयुक्त केवल शब्दान्तर ही हैं। **'शान्तम्'** तो दोनों ही मानेंगे। **'अवाच्यम्'** और **'प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्'** पुनः पर्याय हैं। इसी तरह **'निर्विकल्पम्'** भी उभयमान्य है। **'अद्वैतम्'** और **'अनानार्थम्'** पुनः पर्याय हैं। अब यही **'तत्त्वस्य लक्षणम्'** हो तो ब्रह्म भी तत्त्व है और शून्य भी। अतएव शून्य केवल नास्तिता, सर्वनिषेध नहीं है,

> **शून्यत्वं नास्तितारूपं भवांस्तु परिकल्पयन्।**
> **प्रपञ्चं वर्धयन्नेव न च वेत्ति प्रयोजनम्॥**

सबसे अच्छी बात तो यही होती कि लेखिका इस विषयमें कुछ बोलती ही नहीं क्योंकि श्रीशङ्कराचार्य अपने ब्रह्मको अवाच्य मानते हैं और बौद्ध अपनी शून्यताको। अब, जिसे कहा नहीं जा सकता वह सत् है या असत् यह कैसे कहा जा सकता है?

श्रीशङ्कराचार्य किसी तरह कहते हों तो उन्हें कहने देना चाहिये था परन्तु लेखिकाका तो Inner consistency (आन्तरिक सङ्गति या परस्परसंवादिता) का विचार करते हुए इस विषयमें चुप रहना ही श्रेयस्कर होता। इस तरह यदि लेखिका मायावादसे परमार्थ-सत् ब्रह्मको लेकर विचार करती हैं तो सन्दर्भहीन शून्यवादसे भी तो मायावादकी विलक्षणता सिद्ध नहीं होती। इस तरह हमने सिद्ध किया कि श्रीवल्लभाचार्यका प्रयोग इस अंशमें युक्तियुक्त ही है।

इसके बाद लेखिकाने जो कहा है वह भी कुछ '**नेति नेति**' सा ही है क्योंकि स्फुट नहीं होता हैं कि लेखिका वस्तुतः श्रीशङ्कराचार्यको कमजोर भाष्यकार कहना चाहती हैं या बादरायणसूत्रको श्रुतियोंका अस्पष्ट एवं अन्यथा विचार करने वाला या श्रुतियोंको प्रमाण मानते हुए भी तर्कको स्वतन्त्र प्रमाण मानकर श्रीशङ्कराचार्यको महान् दार्शनिक या विचारक ? लेखिका जिन गुणोंसे व्यक्तिका विचारक होना मानती हैं वे गुण यदि 'Nobel prize' होते तो श्रीशङ्कराचार्य ज्याँ पाल सार्त्रकी तरह इस सम्मानको आत्म-सम्मानके आधारपर तिरस्कृत कर देते। उपनिषदोंपर भाष्य श्रीशङ्कराचार्यके हैं ही। उनका अपना मत वहाँसे भी सिद्ध ही होता क्योंकि उपनिषदोंका जो भी सच्चा अर्थ होगा वह ब्रह्मसूत्रको बाध्य होकर मानना पड़ेगा फिर वहाँसे (उपनिषद्भाष्यसे) ही अपने मत और अर्थ के सिद्ध हो जानेके बावजूद इस ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखकर अपने आपको कमजोर भाष्यकार कहलानेका सम्मान (!) श्रीशङ्कराचार्यको संन्यासी एवं परमहंसशिरोमणि होनेसे '**सुखदुःखे समे कृत्वा**' के आधारपर अच्छा लग भी जाता तो किसी व्यासका ऐसा असम्मान तो उन्हें निश्चित ही नहीं सुहाता। लेखिकाने श्रीशङ्कराचार्यका ऐसा एक भी वचन ब्रह्मसूत्रमें क्यों नहीं खोजा जहाँ उन्होंने '**प्रखरज्ञानमार्तण्ड**' होनेके कारण अपनी '**तीक्ष्ण तर्क करते हुए किसी भी स्थितिका सामना करनेकी शक्ति**' से यह कह दिया होता कि यह सूत्र अमुक श्रुतियोंके साथ न्याय नहीं कर रहा है।

हाँ पृष्ठ इकसठपर लेखिकाने श्रीवल्लभाचार्यके मतानुयायियोंसे पूछा है कि जगत् उसी अर्थमें जिस अर्थमें ब्रह्म सत्य है, सत्य है या नहीं ? यदि है तो द्वैतापत्ति और नहीं है तो शाङ्करमतमें प्रवेश।

यह भी कोई युक्तिका आकार है ! लेखिका इसी तरह मायावादीसे क्यों नहीं पूछती कि ब्रह्म उसी अर्थमें सत्य है, जिस अर्थमें जगत् सत्य है या अन्यथा ? यदि उसीमें तो ब्रह्म मिथ्या हो जायेगा और यदि नहीं तो द्वैतापत्ति। यदि कहा जाये कि यह द्वैत होगा तो ज़रूर किन्तु यह द्वैत भी मिथ्या है अतः आपत्तिजनक नहीं तो श्रीवल्लभाचार्यके अनुयायी भी जवाब दे सकते हैं कि यह द्वैत तो अवश्य होगा किन्तु ऐच्छिक अर्थात् ब्रह्मकी इच्छासे, स्वाभाविक नहीं। तादात्म्य सम्बन्ध अद्वैतियोंको भी मान्य है जहाँ भेद

रहते हुए भी द्वैतापत्ति नहीं होती। लेखिकाको सूचित कर दें कि इसके लिए ब्रह्मको **विरुद्धधर्माश्रय** माने विना भी काम चल सकता है तो मानने से तो कोई प्रश्न ही नहीं उठेगा। एतदर्थ अद्वैतियोंके प्रक्रियाग्रन्थ लेखिका अवलोकन करेंगी तो स्पष्ट हो जायेगा कि तादात्म्य सम्बन्धकी स्वीकृति अन्य स्थलोंपर अद्वैतियोंको भी अभिमत ही है और वही लेकर बड़े आरामके साथ समाधान किया जा सकता है। वैसे यह तो केवल एक उत्तर है। वास्तविक प्रश्न यहां यह है कि '**ब्रह्मको किस अर्थमें सत्य माना है ?**' इस बारेमें लेखिकाका क्या खयाल है ? क्या इस अर्थमें कि ब्रह्म ही केवल सत्य है और अन्य मिथ्या, या ब्रह्म इसलिए सत्य है कि ब्रह्ममें द्वैत नहीं है या इसलिए कि वह देशकाल और स्वरूप से अपरिछिन्न है ?

ऐसे अनेकों प्रश्नोंका कोई मूल्य नहीं क्योंकि यदि हम केवल इतना कहदें कि ब्रह्मको सत्य इसलिए मानते हैं कि वह भ्रान्तिसे कल्पित नहीं है और यदि जीव और जगत् भी भ्रान्तिकल्पित नहीं है तो इसमें द्वैतापत्ति कहाँसे आयी ? इसलिए तो आ नहीं सकती कि ब्रह्मके अलावा जगत् भी सत्य है क्योंकि जीव और जगत् का पृथक् अस्तित्व तो है परन्तु वह ब्रह्मके अस्तित्वके अनधीन है ऐसा नहीं है क्योंकि वह 'ब्रह्मपरिणाम' है। ब्रह्म त्रिकालाबाधित है इसलिए परमार्थसत् है। जीव और जगत् भी त्रिकालाबाधित हैं इसीलिए वे भी परमार्थसत् हैं। द्वैत होनेकी आपत्ति यहाँ इसलिए नहीं की जा सकती कि जीव-जगत् ब्रह्मके परिणाम हैं और परिणामी उपादानकारण और कार्य में भेद होते हुए भी अभेद रहता है, यह अन्य स्थलमें अद्वैतियोंको भी स्वीकार्य है, उसीका हम यहाँ ब्रह्म और जीव-जगत् के बारेमें विधान करते हैं।

लेखिकाका कहना है कि अग्निविस्फुलिङ्गकी तरह व्युच्चरणका उदाहरण श्रीवल्लभाचार्यके द्वारा "Exclusively chosen" है अर्थात् इस उदाहरणको केवल श्रीवल्लभाचार्यने ही चुना है तथा यह ब्रह्म और जीव पर घटित नहीं होता है, तो पहले तो लेखिकाको सूचित कर दें कि यह श्रीवल्लभाचार्यका स्वयंका खोजा हुआ उदाहरण नहीं है किन्तु उपनिषदोंमें दिया गया उदाहरण है। बृहदारण्यकमें '**यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः‥‥‥व्युच्चरन्ति**' (बृह० उप० २।१।२०) तथा कौषीतक्युपनिषत्में भी '**यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणाः यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते।**' (कौषी० उप० ३।३ तथा ४।१९) ऐसा एकाधिक बार कहा गया है। और न केवल इतना ही किन्तु "**मृत्तिका इत्येव सत्यम्**" में लेखिकाको श्रौत '**एव**' कारका बहुत पक्ष है इसलिए उन्हें याद दिलाते हैं कि यहां भी '**एवमेव**' में '**एव**'कार श्रौत है अर्थात् जीव इसी तरह व्युच्चरित होता है प्रतिबिम्ब या घटाकाश की तरह नहीं। यह लेखिका शायद मानना चाहें ! यदि लेखिका युक्तिविरोध दिखलाती हैं तो ऐसा युक्तिविरोध तो '**मृत्तिकेत्येव**'में भी दिखलाया जा सकता

है कि दुनियामें मिट्टी और घड़े में किसी भी रूपसे सत्ताभेद नहीं दिखाई देता, फिर घड़ा ही मिथ्या क्यों है और मिट्टी क्यों नहीं ? और न केवल इतना ही अपितु पुनःप्रवेश भी श्रुतिवचन दिखलाते हैं तो श्रीवल्लभाचार्य क्या करें ? लेखिकाको कह देना चाहिये था कि यह श्रुति तर्क-विरुद्ध होनेसे अप्रमाण है ताकि हमें फिर कहनेका अवसर प्राप्त होता कि कृपया अपने शोधप्रबन्धके ग्यारहवें पृष्ठकी पादटिप्पणीका स्मरण करें।

वैसे जहाँ तक युक्ति-विरोधका प्रश्न है तो केवल इतना कहने मात्रसे समाधान किया जा सकता है कि दृष्टान्तमें सर्वांश समान नहीं होते अन्यथा एक दृष्टान्त और दूसरा दार्ष्टान्तिक ही नहीं रह जायेगा। अन्यथा क्या अद्वैतियोंके सम्मत जीव और ब्रह्म के अवच्छेदवाद या प्रतिबिम्बवाद या आभासवाद में सर्वांशसाम्य है ? हम कह दें कि उदाहरणोंमें दोनों सविशेष हैं, जबकि ब्रह्म निर्विशेष है। खैर, अतः इस युक्तिमें तो इतना दम ही नहीं है कि श्रौत मतका विरोध यौक्तिक आधारपर ही कर सके किन्तु यदि कोई अन्य वस्तुतः प्रबल विरोधी युक्ति भी हो तो उसका विरोध साक्षात् श्रुतिसे है न कि वाल्लभमत या व्याख्यान से क्योंकि वह केवल श्रुतिपर ही अवलम्बित है।

वैसे लेखिकाने अन्य विरोधी युक्तियाँ दी नहीं हैं अन्यथा उनकी भी यही गति होती। युक्तियाँ ऐसे बौद्धिक स्तरसे दी जा रही हैं कि इनमें इतना दम ही नहीं है कि इनको तोड़नेके लिए शब्द प्रमाणतक जाना पड़े, किन्तु यदि कोई वस्तुतः ऐसी वजनदार युक्ति हो तो भी श्रीवल्लभाचार्यसमेत सभी पूर्वोत्तरमीमांसक ही नहीं किन्तु तार्किक-नैयायिकों तकका स्पष्ट मत है कि युक्तिसे प्रमाणका बाध नहीं होता; यह हम पहले दिखला चुके हैं।

इस ठोस सत्य जगत्के मिथ्या होनेकी कल्पनासे न घबड़ाने वाली लेखिका '**वह्निः अनुष्णः**' वाक्यके प्रमाण होनेकी बातसे घबड़ायी हुई नज़र आती हैं कि इस तरह तो जगत्के यौक्तिक व्यवहारका क्या होगा, बौद्धिक चिन्तनका क्या होगा, किन्तु वही होगा जो जगत्के मिथ्या होने पर भी न हुआ ! यदि अद्वैत मत परमार्थ और व्यवहार का प्रभेद करता है तो यहाँ भी ब्रह्मज्ञान और अब्रह्मज्ञान के भेदसे व्यवस्था क्यों नहीं हो पाती ? प्रत्युत स्वीकृत अभेदवादमें '**तदभिन्नस्य तदभिन्नाभिन्नत्वम्**' अर्थात् क = ख = ग.∵.क = ग तो सर्वथा गणितसे शुद्ध युक्ति है। अतएव लेखिका जब यहाँ श्रीवल्लभाचार्यपर आरोप न करके उनके पश्चाद्वर्तियोंपर आरोप करती हैं कि उन्होंने अबौद्धिक रुख अपनाया तो मुझे तो लगता है कि नयी सर्वाधिक प्रमाणिक मानी जाने वाली युक्तिके आधार पर विचार किया, पर क्या किया जाये !

पृष्ठ बासठपर लेखिकाका आरोप है कि 'वाल्लभमत विश्लेषणाविरहित, भक्त्यात्मक मान्यताओं और दर्शन और तर्क के बीचमें विवेक नहीं करता। वह इस बात पर पर्याप्त विचार भी नहीं करता कि दर्शन और धर्म के बीच क्या सम्बन्ध है। न केवल इतना ही किन्तु यह बात और लक्ष्यमें रखनी चाहिये कि यदि किसीको धर्मोपदेश करना

है या मान्यताओंकी ही शिक्षा देनी है तो वह अपने वैध क्षेत्रमें विचरण कर सकता है परन्तु उसे धर्म और दर्शन का सङ्कर नहीं कर देना चाहिये। यद्यपि दोनों यदि सत्यपर आधारित हों तो बुद्धिमान् व्यक्तिमें समन्वित होंगे ही और यह अनिवार्य नहीं है कि दोनों परस्पर-विरोधी ही हों किन्तु अधिकांश अन्य साम्प्रदायिक धार्मिक मतोंकी ही भाँति वाल्लभ मतमें भी वे दुर्भाग्यसे ऐसा ही रूप लिये हुए हैं। जबतक मनुष्यकी बुद्धिके साथ सङ्गत न हो कोई भी धर्म परिपूर्ण नहीं कहाता, ऐसे ही दर्शन धर्मके विना।'

कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि लेखिका मूलभूत रूपसे यह मानते हुए भी कि धर्म और दर्शन को हाथ-में-हाथ मिलाकर चलना चाहिये इस अधिकारसे श्रीवल्लभाचार्यके दर्शन और धर्म को वञ्चित रखना चाहती हैं। ठीक वैसे ही जैसे पुष्टिमार्गीय ब्रह्म किसीको पुष्टि और किसीको मर्यादा या प्रवाह का जीव बनाता है फिर फल या दण्ड भी देता है। लेखिका यह मानती हैं कि अन्ततः धर्म और दर्शन में अन्तर नहीं है फिर भी श्रीवल्लभाचार्यके अन्तर न करने पर भी उनको इस आधारपर ही ग़लत बताना चाहती हैं कि उन्होंने ऐसा लेखिकासे पूछे विना कैसे कर दिया। श्रीवल्लभाचार्यको चाहिये था कि लेखिकासे पूछते कि देखिये यह मेरा धर्म है और यह दर्शन। और अब इन दोनोंको सङ्गत करनेका आप लाइसेंस देंगी? फिर लेखिका नाकभौं सिकोड़कर कहतीं कि नहीं यह परमिट फ़िलहाल हमने श्रीशङ्कराचार्य तथा कुछ अन्य को ही दिया है अतः आपको दर्शन और धर्म को अवैधरूपसे सङ्गत करनेकी इज़ाज़त नहीं है। अब श्रीवल्लभाचार्य सङ्गत न करते तो भी यह सिद्ध है कि बुद्धिमान् व्यक्तिके जीवनमें ये दोनों सङ्गत होते फिर भी वाल्लभसरणिमें नहीं हैं (!) और हैं तो अवैध हैं, क्योंकि लेखिकाने श्रीवल्लभाचार्यको धर्म और दर्शन को मिलाने का परमिट (permit) नहीं दिया है! किन्तु इसकी climax (चरमसीमा) तब आती कि लेखिका अपने office (कार्यालय) से एक पत्र श्रीशङ्कराचार्यको भिजवातीं कि हमने आपके लिए दर्शन और धर्म को मिलानेका लाइसेन्स बनवाकर तैयार रक्खा है क्योंकि रिसर्च-स्कॉलर एण्ड कम्पनी आपको इस योग्य समझती है, क्योंकि आपका दृष्टिकोण अन्य आचार्योंकी तरह साम्प्रदायिक नहीं है, तार्किक है; अतः आप कृपया निर्धारित अवधिके भीतर आकर अपना लाइसेन्स (अनुज्ञापत्र) ले जाइये और फिर श्रीशङ्कराचार्य इसे बाँचकर सिर्फ इतना ही सन्देश प्रत्युत्तरके रूपमें देते कि,

(१) **ब्रह्म चैवमाचार्योपदेशपरम्परयैवाधिगन्तव्यं, न तर्कतः।** (केनोप० शाङ्करभाष्य १।३)।

(२) **तस्माद् यथाशास्त्रोपदेश एवात्मावबोधविधिः, नान्यः। न हि अग्नेर्दाह्यं तृणाद्यन्येन केनचिद् दग्धुं शक्यम।** (ऐतरेयोप० शाङ्करभाष्य २।१।१)।

(३) **आत्महा स्वयं मूढोऽन्यांश्च व्यामोहयति शास्त्रार्थसम्प्रदायरहितत्वात्, श्रुतहानिमश्रुतकल्पनाञ्च कुर्वन्। तस्माद् असम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदेवोपेक्षणीयः।**
(गीताशाङ्करभाष्य १३।२)।

और इस तरह श्रीशङ्कराचार्यके नाम फाड़ी हुई रसीद (receipt) बेकार हो जाती। अतएव हम लेखिकाको सुझाव देते कि लाइसेन्स देनेसे पहले स्वयं श्रीशङ्कराचार्यसे नहीं तो उनके परिचितसे ही पूछ लिया होता कि इस Dealing (सौदे) में वे interested (रुचि रखते) हैं या नहीं। जिस गीताभाष्यके वचनको लेखिकाने उद्धृत किया है वह तो विषयव्यवस्थासे प्रमाणप्रवृत्तिके हमारे सिद्धान्तका समर्थक है। इसका विरोध **'वह्निरनुष्णः'** से नहीं है, उस सन्दर्भमें अवश्य विरोध है जिस सन्दर्भको लेखिकाने **'वह्निरनुष्णः'** के प्रमाण होनेके विधानपर थोपा है। ब्रह्मदृष्टिसे प्रमाण होते हुए भी लोकव्यवहार उन-उन धर्मोंके आविर्भाव-तिरोभावपर अवलम्बित होता है। इसके अलावा पुष्टि या भगवदनुग्रह के सिद्धान्तपर लेखिकाके जो विधान हैं वे निष्कर्षालोचनसे गतार्थ हैं एवं आधारहीन हैं अतः पिष्टपेषण किये विना ही इस समालोचनाका प्रथमांश यहाँ पूर्ण होता है।

•

षष्ठ अध्याय

'श्रीवल्लभाचार्यकी प्रमुख कृतियाँ' शीर्षक

पञ्चम परिच्छेदकी समालोचना

इस परिच्छेदमें लेखिकाने श्रीवल्लभाचार्यके अणुभाष्य, तीनों निबन्ध, सुबोधिनी तथा षोडशग्रन्थ के उद्धरणोंको सानुवाद देते हुए, जहाँ-जहाँ श्रीवल्लभाचार्य शाङ्कर मतके प्रतिकूल कोई विधान करते हैं वहाँ श्रीशङ्कराचार्यके मतकी वकालत करनेका प्रयत्न किया है और श्रीवल्लभाचार्यके मतकी कमजोरी दिखानेमें धर्मयुद्धका-सा अपना उत्साह दिखलाया है। परन्तु दुर्भाग्यवश श्रीशङ्कराचार्यके मतका भली-भाँति ज्ञान न होनेके कारण और वेदान्त दर्शनकी मूलभूत मान्यताओंसे नितान्त अनभिज्ञ होनेके कारण लेखिकाने एकके समर्थन और दूसरेके विरोधमें जो अनर्गल विधान किये हैं उनकी निःसारता हमें अब देखनी है।

ब्रह्मसूत्राणुभाष्यपर आरोपका **'अथ'** (प्रारम्भ) लेखिका पृष्ठ ९७ से करती हैं कि जब श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार ब्रह्मकी जगत्कारणताका विचार **'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।२) सूत्रमें ही हो चुका है तब **'तत्तु समन्वयात्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।३) सूत्रमें पुनः कारणताका विचार पुनरावृत्ति लगता है। परन्तु आश्चर्य तब होता है जब स्वयं श्रीशङ्कराचार्य **'शास्त्रयोनित्वात्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।३) सूत्रके भाष्यके अन्तमें यह प्रश्न उठाते हैं कि **'जन्माद्यस्य यतः'** (ब्रह्मसूत्र १।१।२) सूत्रमें यह सिद्ध किया जा चुका है कि ब्रह्म शास्त्रैकसमधिगम्य है तो पुनः यहाँ अर्थात् **'शास्त्रयोनित्वात्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।३) सूत्रमें ब्रह्मको शास्त्रैकसमधिगम्य सिद्ध करनेका क्या प्रयोजन है—क्या यह पुनरावृत्ति नहीं है ? और इसका समाधान वे यही देते हैं कि पूर्वसूत्रमें स्पष्टतया इसका निरूपण नहीं हो पाया है, अतः जिज्ञास्य ब्रह्मको कोई शास्त्रके बजाय 'रैशनलिटी' का ही प्रमेय न मान ले इस स्पष्टीकरणके लिए यह सूत्र कहा गया है। ठीक इसी तरह श्रीवल्लभाचार्य भी स्वयं **'तत्तु समन्वयात्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।३) सूत्रके प्रारम्भमें ही यह शङ्का उठाते हैं कि ब्रह्म समवायी कारण है कि नहीं, निमित्तकारण है कि नहीं, या जगत्कर्ता है कि नहीं, यह प्रश्न यहाँ क्यों उठाया जा रहा है जब कि यह तो **'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।२) सूत्र और उसके विषयवाक्य **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** (तैत्ति० उप० ३।१) से ही सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म ही सर्वविध कारण है और इसका समाधान भी श्रीवल्लभाचार्य

यही देते हैं कि यद्यपि वहाँसे सिद्ध हो सकता था किन्तु केवल '**यतः**' का अर्थ कोई व्यक्ति निमित्तकारण भी कर सकता है अतः इस स्पष्टीकरणके लिए पुनर्विचारकी आवश्यकता है। स्पष्टीकरणके लिए पुनर्विचार लेखिकाके अनुसार श्रीशङ्कराचार्यकी तार्किकताका प्रमाण है परन्तु श्रीवल्लभाचार्य यदि किसी स्पष्टीकरणके लिए पुनर्विचार करते हैं तो लेखिकाको कष्ट होता है कि वे विचार ही क्यों करते हैं, जब वे श्रीशङ्कराचार्य जितने बुद्धिमान् नहीं हैं ! सम्भवतः श्रीवल्लभाचार्य स्पष्टीकरणके लिए पुनर्विचार इसलिए कर रहे हैं कि लेखिकाको पी-एच्० डी० का शोध-प्रबन्ध लिखनेके लिए कोई सामग्री उपलब्ध हो क्योंकि तर्क-जटिलताके कारण शाङ्कर दर्शन तो लेखिकाके ज्ञानसे ऊपरकी वस्तु है अतः पी-एच्० डी० की डिग्रीकी सम्भावना कम रह जाती है। लेखिकाको श्रीवल्लभाचार्यका उपकार मानना चाहिए, क्योंकि यदि 'रैशनलिटीके साथ कम्पैटिबल' ब्रह्मरूपका प्रतिपादन श्रीवल्लभाचार्य करते तो लेखिकाका पी-एच्० डी० होना मुश्किल हो जाता।

पृष्ठ ९८ पर श्रीवल्लभाचार्यके विरुद्ध धर्मयुद्धोन्मादमें लेखिकाका कहना है कि अणुभाष्यकारके 'शास्त्रको विना (स्वबुद्धिपरिकल्पित) तर्कके समझना चाहिये क्योंकि स्वरुचिके अनुसार बुद्धिकल्पित अर्थका शास्त्रीय अर्थकी तुलनामें कोई महत्त्व नहीं है' इस आरोपको स्वयं उनके विरुद्ध लगाया जा सकता है, क्योंकि दो परस्पर-विरुद्ध श्रुतियोंका सभी भाष्यकार—स्वयं श्रीवल्लभाचार्य भी—स्वरुचिके अनुसार स्वबुद्धिपरिकल्पित अर्थ ही करते हैं। वैसे वस्तुतः इतना ही शास्त्राग्रह हो तो सच्चाई से जो भी और जैसा-भी श्रुति कहती हो मान लेना चाहिये, किसी भी एकतर श्रुतिवाक्यको गौण या मुख्य नहीं बनाना चाहिये। किन्तु इसका पर्यवसान तो अन्धविश्वासमें होगा और वह धर्ममें स्वीकार्य हो सकता है दर्शनमें नहीं[1]।

वस्तुतः यह श्रीवल्लभाचार्यकी आलोचनामें लेखिकाके तन्मय हो जानेका प्रमाण है कि वह स्वयं इतने परस्पर–विरुद्ध विधान या आरोप श्रीवल्लभाचार्य पर लगा रही हैं ! समूची थीसिसमें एक ही तो आरोप आद्योपान्त दुहराया गया है कि श्रीवल्लभाचार्यका दर्शन श्रुतिवाक्योंके अन्धानुकरणपर ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय मान लेनेके कारण धर्म कहला सकता है दर्शन नहीं। और वही लेखिका यहाँ श्रीवल्लभाचार्यको ही यही सीख दे

1. If the staunch followers of the word of the śruti profess to be faithful to it, they should accept both the sets of texts—and hence the inherent-contradiction also—as they are offered, and should not try to attribute greater importance to either. But this would result in blind faith,—and that may be acceptable to religion or dogma, but not to philosophy. (The Phil. of V. p. 98).

रही हैं कि सभी श्रुतियोंको प्रमाण मानना हो तो विरुद्धश्रुतियोंको भी प्रमाण मानकर ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय मानना चाहिये, और ऐसा ब्रह्म धर्ममान्य हो सकता है मगर दर्शनमान्य नहीं। और स्वयं श्रीवल्लभाचार्यपर यह भी आरोप है कि वे परस्पर-विरुद्ध बातोंको न मानकर श्रुतिवाक्योंमें स्वबुद्धिपरिकल्पित गौणमुख्यभाव स्वीकार करते हैं। न जाने दोनों आरोपोंमेंसे कौन-सा आरोप सत्य है ? या फिर कहीं श्रीवल्लभाचार्यको मान्य ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रय होनेकी ही बात सत्य तो नहीं है जिसका प्रमाण श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार उस ब्रह्मकी अंशभूत लेखिका स्वयं विरुद्धधर्माश्रय होकर दे रही हैं !

वैसे श्रीवल्लभाचार्यके आरोपका तो इतना ही सार है कि यदि कोई भाष्यकार श्रुतिका स्वमतानुकूल अर्थ किसी श्रुतिवाक्यका गौणीवृत्तिसे अर्थ करके ही दे पाता हो तो उसे यह सोचना चाहिये कि वह श्रुतिके व्याख्यानार्थ प्रवृत्त हुआ है न कि स्वयं अपना मत कहने (जैसे बौद्ध, जैन या इतर मत केवल स्वमतनिरूपणार्थ ही प्रवृत्त हैं, श्रुति आदि किसी सिद्ध प्रमाणके व्याख्यानार्थ नहीं), अतः श्रुतिकी व्याख्या करते समय श्रुतिका अर्थ बलवान् होगा न कि अपना मत। यदि हमारे मतानुसार श्रुतिमें कोई विरोध आता हो तो हमें स्वीकार करना चाहिये कि श्रुति परस्पर-विरुद्ध तथ्यका विधान कर रही है अतः श्रुतिका तात्पर्य विरुद्धधर्माश्रय वस्तुके निरूपणमें है। उदाहरणतया, लेखिका जब अनेक स्थलोंपर श्रीशङ्कराचार्यके मतको समझे विना उनकी ही वकालतके लिए उनके ही मतसे विरुद्ध कई बातें अपने शोधप्रबन्धमें कहती हैं तो हम प्रामाणिकतासे वहाँ यह स्वीकार कर लेते हैं कि लेखिकाका यह विधान श्रीशङ्कराचार्यकी वकालतके लिए होने पर भी (अज्ञानजन्य होनेके कारण) श्रीशङ्कराचार्यके मतके विरुद्ध है। हम वहाँ अपनी तार्किकताका उपयोग कर न तो यह कह सकते हैं कि लेखिकाका तात्पर्य श्रीशङ्कराचार्यके समर्थनमें नहीं है और न यह कह सकते हैं कि यह विधान—जो श्रीशङ्कराचार्यके मतके प्रतिकूल है—इतना मुख्य नहीं गौण है। हम विना स्वबुद्धिपरिकल्पित अर्थ किये प्रामाणिकतासे यह स्वीकार कर लेते हैं कि लेखिका परस्पर-विरोधी बातें कह रही हैं, क्योंकि हम तो लेखिका जो कहना चाहती हैं उसका व्याख्यान कर रहे हैं—अपना मत कहीं थोड़े ही कहते हैं !

रहा आरोपका प्रश्न, तो यह तो लेखिकाका कर्तव्य है कि वह दिखलायें कि किन दो श्रुतिवाक्योंकी सङ्गति श्रीवल्लभाचार्य एकके गौण और दूसरेके मुख्य अर्थका सहारा लेकर करते हैं ? अणुभाष्यमें यह आरोप अध्यारोपवादके सन्दर्भमें अद्वैतियोंपर लगाया गया है। श्रीवल्लभाचार्य न निर्गुणश्रुतिवाक्योंको अध्यारोप मानते हैं और न श्रीशङ्कराचार्यकी तरह सगुणश्रुतिवाक्योंको ही। ऐसी स्थितिमें—अर्थात् जब अध्यारोप ही नहीं तो—अपवाद किस श्रुतिवाक्यका होगा ? और जब अपवाद नहीं तो 'सगुण' का अर्थ

'अलौकिकगुणसम्पन्न' तथा 'निर्गुण' का अर्थ 'प्राकृत या मायिक गुणोंसे रहित' होगा। इसमें अध्यारोपापवादप्रयुक्त गौणमुख्यभाव या अभिधागौणीवृत्तिप्रयुक्त गौणमुख्यभाव है ही नहीं। तब भी गौणमुख्यभावका मनमाना—जो स्वयं श्रीशङ्कराचार्यको भी मान्य न हो ऐसा—अर्थ लेकर, श्रीवल्लभाचार्य पर स्वबुद्धि-परिकल्पित अर्थ करनेका आरोप लगाना हास्यास्पद अज्ञान ही है। **'अतः स्वबुद्ध्या गौणमुख्यभावार्थं परिकल्प्य तत्राणुभाष्यं योजयन्तो महासाहसिकाः सद्भिरुपेक्ष्याः !'**

पृष्ठ ९९ पर लेखिका कूपमण्डूककी तरह श्रीशङ्कराचार्यके 'निर्गुण' शब्दके 'सर्वथा गुणरहित' इस अर्थको universally accepted meaning (अर्थात् सर्वमान्य अर्थ) मान कर श्रीवल्लभाचार्यपर आरोप लगाती हैं कि वे सर्वमान्य अर्थको छोड़ देते हैं, जबकि 'निर्गुण' का अर्थ 'सर्वथा गुणरहित' बारह भाष्यकारोंमें केवल श्रीशङ्कराचार्य ही करते हैं। वैसे यदि वे वेदान्तके सन्दर्भका ख़याल किये विना 'निर्गुण' शब्दके केवल व्याकरणशास्त्रीय अर्थ 'गुणरहित' को सर्वमान्य कह रही हों तो उन्हें श्रीशङ्कराचार्यपर यह आरोप लगाना चाहिये कि 'सगुण' शब्दके सर्वमान्य अर्थ 'गुणवान्' को छोड़ कर वे इसका अर्थ 'मायिक या मिथ्या गुण वाला' क्यों करते हैं ? परन्तु श्रीवल्लभाचार्यके विरुद्ध धर्मयुद्ध ही करना हो तो यह 'रैशनल इन्क्वायरी' व्यर्थ है क्योंकि लेखिकाके अनुसार धर्मयुद्ध तो अन्धविश्वासपर ही चलाया जा सकता है, तर्कपूर्वक नहीं !

पृष्ठ सौपर लेखिका जिस प्रश्नको अत्यन्त उल्लेखनीय समझ रही हैं वह प्रश्न है, **'आत्मशब्दः निर्गुणब्रह्मवाचकत्वेनैव सिद्धः'** (अणुभाष्य १।१।५) कह कर श्रीवल्लभाचार्य निर्गुण परब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म = अक्षर ब्रह्म में भेद मानते हैं कि नहीं ? वस्तुतः आश्चर्यकी बात है कि अणुभाष्य आदि ग्रन्थ इतना उलटने-पलटनेके बाद भी इतनी छोटी-सी बात लेखिकाकी समझमें नहीं आयी कि वाल्लभ मतमें, अक्षर ब्रह्म तो दूर-की बात है जागतिक वस्तुओंके साथ भी परब्रह्मका सम्बन्ध न तो भेदका है और न अभेदका, वहाँ तो सभीके साथ परब्रह्मका तादात्म्यसम्बन्ध ही माना गया है, अतः उपर्युक्त प्रश्न ही क्षुद्र है। रही उन-उन प्रसङ्गोंमें निर्गुण, सगुण आदि शब्दोंके सीधे-सादे अर्थको छोड़नेकी बात, तो वह तो जब सर्वप्रथम श्रीशङ्कराचार्यने 'सगुण' शब्दका 'गुणवान्' यह सीधा-सादा अर्थ छोड़कर 'मायिकगुणवान्' यह अर्थ किया और तत्तत् प्रसङ्गोंमें सीधे-सादे अर्थको कैसे छोड़ दिया जा सकता है इसका दिशा-निर्देश किया तो सभी आचार्य श्रीशङ्कराचार्यके अनुगामी बन गये और 'निर्गुण' शब्दका सीधा-सादा अर्थ छोड़कर प्रसङ्गानुसार अर्थ करने लग गये। लेखिकाको इसके लिए श्रीशङ्कराचार्यको धन्यवाद देना चाहिये और उनका आभार मानना चाहिये क्योंकि वे तो महान् दार्शनिक ठहरे !

धर्मयुद्धोन्मादका एक ऐसा मजेदार उदाहरण, जिसे स्वयं लेखिका भी अब

सुधारनेमें सङ्कोचका अनुभव करें, हमें इसी पृष्ठपर मिलता है। **'स्वाप्ययात्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।८) सूत्रके अणुभाष्यमें श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं, **'स्वपिति इति न क्रियापदं किन्तु जीवस्य नाम।'** (अणुभाष्य १।१।८)। अतः युद्धरत स्थितिमें लेखिका कहती हैं, "Actually 'svapiti' (in the text) is not the name of the Jīva, but it stands for the verb expressing the condition of a Jīva in deep sleep." (The Phil. of V. p. 100). किन्तु श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं, **"एषा श्रुतिः 'स्वपिति' इत्येतत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं नाम निर्वक्ति"** (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य १।१।९) और इस वाक्यकी व्याख्या करते हुए न्यायनिर्णयकार कहते हैं, **"यत्र पुरुषः 'स्वपिति' इत्येतन्नाम भवति।"** अरे! स्वयं श्रुति कहती है, **"यत्रैतत्पुरुषः स्वपितिनाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति।"** (छान्दो० उप० ६।८।१)। किन्तु धर्मयुद्ध सदा विवेकसे नहीं कभी-कभी अन्धद्वेषसे भी चलता है! यदि **'स्वपिति'** शब्द नामवाचक न होकर क्रियावाचक होता तो उद्दालकको उसकी व्युत्पत्ति देनेकी क्या आवश्यकता थी[1]? **'स्वं ह्यपीतो भवति'** (छान्दो० उप० ६।८।१) यह नामवाचक **'स्वपिति'** शब्दकी व्युत्पत्ति है।

पृष्ठ एक-सौ-एकपर लेखिका कहती हैं, "V. has nowhere directed his remarks against the theory of an inanimate entity being the cause, so as to legitimately wind up as he has done. ("Evam cidrūpasya Kāraṇatā nirūpaṇena" etc.)". धर्मयुद्धोन्मादके अन्धद्वेषका यह एक अन्य उदाहरण है, क्योंकि **'ईक्षतेर्नाशब्दम्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।४) सूत्रके अणुभाष्यकी सभी मुद्रित प्रतियोंमें, **'तत्र लक्षणविचार एव सद्रूपाणां वाचकता निर्णीता। चिद्रूपस्य ज्ञानप्रधानस्य निर्णयार्थमीक्षत्यधिकरणमारभ्यते सप्तभिः सूत्रैः।'** (अणुभाष्य १।१।४) इत्यादि वाक्य मिलते हैं।

लेखिकाने पृष्ठ १०६ से १०७ तक आनन्दमयाधिकरणके द्वितीय व्याख्यानके बारेमें जो कुछ लीपापोतीकी है वह इतनी हास्यास्पद और बचकानी है कि उसकी आलोचना लिखना भी समयका अपव्यय लगता है। ब्रह्मसूत्रोंके शाङ्करभाष्यके वाचस्पति मिश्र आदि सभी टीकाकार और शाङ्कर सिद्धान्तके सभी अच्छे विद्वान् इसे श्रीशङ्कराचार्यका अभिप्रेत व्याख्यान मानते रहे हैं। न केवल इतना ही किन्तु वे सभी प्रथम व्याख्यानको वृत्तिकारका मत, एकदेशीका मत मानते रहे हैं। उनके विपरीत लेखिका कहती हैं कि द्वितीय व्याख्यानमें प्रतिपादित मत एकदेशीका है। सन्तोष इसी बातका है कि लेखिकाको स्वयं शाङ्कर मतका न तो अध्ययन है और न समझ, इसीलिए वे जो भी मनमें आये कह सकती हैं। इस अविद्याविलासका न जाने किस ब्रह्मज्ञानसे निवारण होगा!

---

1. उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच, स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपितिनाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति, तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते, स्वं ह्यपीतो भवति। (छान्दो० उप० ६।८।१)।

श्रीवल्लभाचार्यके आरोपको 'without footing' (निराधार) कहनेसे पहले लेखिकाने शाङ्करमतमें अपनी स्वयंकी 'footing' ठीकसे जमायी होती तो उनकी यह फ़ज़ीहत न होती !

अतएव लेखिकाने पृष्ठ १०७-१०८ पर श्रीवल्लभाचार्यके 'वही शब्दैकप्रामाण्य-वादका तार छेड़ने' की जो बात कही है उससे केवल यही सिद्ध होता है कि स्वयं लेखिकाके पास अपनी थीसिसमें आद्योपान्त छेड़नेको केवल यही एक बेसुरा तार है क्योंकि जिन्हें न वेदान्तका ज्ञान, न शाङ्कर दर्शनका और न वाल्लभ दर्शनका—और तो और जिन्हें दर्शन और तर्क का अर्थ भी ज्ञात नहीं है—वे दार्शनिकोंका मूल्याङ्कन करती हैं ! धन्य !

पृष्ठ एक-सौ-दसपर लेखिका कहती हैं कि **'सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्'** (ब्रह्मसूत्र १।४।२) सूत्रके अणुभाष्यमें श्रीवल्लभाचार्यद्वारा किये गये ब्रह्म और उसके धर्मों में अभेदके प्रति-पादनके सम्बन्धमें यह उल्लेखनीय है कि धर्म और धर्मी का एक दूसरेसे अलग-अलग प्रत्यक्ष भले ही न होता हो, इनमेंसे एक गुण है और दूसरा द्रव्य, अतः गुणद्रव्यके सम्बन्धका विचार करनेपर धर्म और धर्मी में भेद ही मानना चाहिये, अभेद नहीं। लेखिकाका यह विधान भी उनके वेदान्तके अज्ञानका ही द्योतक है क्योंकि वेदान्ती नैयायिक-वैशेषिककी तरह समवाय मानते ही नहीं हैं अतः उनके प्रतिपाद्य ब्रह्म एवं ब्रह्मधर्मों के सम्बन्धमें गुणद्रव्यके भेदका सिद्धान्त लागू ही नहीं होता। जिन अनुयोगी-प्रतियोगीमें न्याय-वैशेषिक समवायसम्बन्ध मानते हैं वहाँ हम (वेदान्ती) तादात्म्य-सम्बन्ध मानते हैं और तादात्म्यका अर्थ होता है, 'भेदसहिष्णु अभेद', ऐसी स्थितिमें, धर्म-धर्मीका अभेद नहीं भेद ही होता है यह कथन भ्रान्तिमूलक है।

पृष्ठ एक-सौ-तेरहपर लेखिकाका धर्मयुद्धोन्माद इस स्थितिमें पहुँच गया है कि देखते ही बनता है ! **'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'** (ब्रह्मसूत्र १।४।२३) सूत्रके अणु-भाष्यमें आये, 'कार्यजगत् और कारणब्रह्म में भेदाभेद है इस मतका निराकरण करनेके लिए....[1]' इत्यादि वाक्यके सम्बन्धमें लेखिका कहती हैं, "Actually, if the Jiva were regarded as a "specific condition" of Br., it can neither be different from Br. absolutely, nor non-different in absolute terms." (The Phil. of V. p. 113). यहाँ यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि लेखिका अणु-भाष्यकारके भेदाभेदका निषेध करनेके कारण ही अपनी थीसिसमें भेदाभेदका विधान करना चाहती हैं या अणुभाष्यकारको उनके तादात्म्यवादका स्मरण कराना चाहती हैं। प्रथम कल्पमें तो यही कहना है कि जब श्रीवल्लभाचार्य **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'** (छान्दो० उप० ६।१।४) में तादात्म्यका प्रतिपादन करते हैं तो लेखिका यह आपत्ति

---

1. कार्यकारणयोर्भेदाभेदमतनिराकरणाय पिण्ड-मणि-नखनिकृन्तनग्रहणम्। (अणुभाष्य १।४।२३)।

करती हैं कि उनका दर्शन Law of non-contradiction (अव्याघातनियम) का पाबन्द न होनेके कारण दर्शन ही नहीं है, केवल धर्मशास्त्रमात्र है, और यहाँ जब वे अव्याघातनियमकी उपेक्षा किये विना भेदाभेदसमुच्चयका निषेध करते हैं तो लेखिका उनसे अव्याघातनियमकी उपेक्षा करके भेदाभेदसमुच्चयका विधान करनेकी अपेक्षा करती हैं। यह केवल '**शिवद्वेषे तात्पर्यम्**' ही है। दूसरे कल्पमें उत्तर तो यदि लेखिकाने अणुभाष्यप्रकाश देखा होता तो पहले ही मिल जाता कि अवस्थाकृतभेद तो श्रीवल्लभाचार्यको भी मान्य है ही, '**न च सर्वथा अभेदे व्यवहारसाङ्कर्यप्रसङ्गः अवस्थाभेदादेव तन्निवृत्तेः।**' (अणुभाष्यप्रकाश १।४।२३)। जिस भेदका निषेध यहाँ किया जा रहा है वह स्वाभाविक भेद है न कि ऐच्छिक—अवस्थाकृत भेद, क्योंकि वही तो शुद्धाद्वैतका प्राणभूत सिद्धान्त है, जिसका उपदेश कम-से-कम श्रीवल्लभाचार्यको देना हास्यास्पद व्यवहार है, विशेषतः लेखिका द्वारा।

इसी पृष्ठपर लेखिकाने अणुभाष्यकारके अतार्किता आदि अन्य दुर्गुणोंके अलावा उनकी अकृतज्ञता भी खोज निकाली है। श्रीवल्लभाचार्यको मालूम नहीं था कि बीसवीं सदीमें वेदान्तविचार भारतीय-पद्धतिसे नहीं किन्तु तथाकथित पाश्चात्य-पद्धतिसे पी-एच्० डी० के रूपमें किया जायेगा अन्यथा वे इतना महान् अक्षम्य अपराध कदापि न करते। श्रीवल्लभाचार्यने तो केवल एक श्लोक, सम्भवतः, श्रीमध्वाचार्यके भाष्यसे उधार लिया होगा—विना कृतज्ञताज्ञापनके—किन्तु श्रीशङ्कराचार्यने तो पूरा बौद्धमत लेकर भी बुद्धके प्रति कृतज्ञताज्ञापन नहीं किया। खैर, सदसद्विवेक धर्मयुद्धमें नहीं रहता, कोई हानि नहीं, वाल्लभमतालोचनसे पी-एच्० डी० के स्वर्गफलको देने वाला पुण्यलाभ तो होगा।

पृष्ठ एक-सौ-चौदहपर लेखिका कहती हैं कि '**भावे चोपलब्धेः**' (ब्रह्मसूत्र २।१।१५) सूत्रका अणुभाष्यकार सम्मत अर्थ यह है कि 'घटकी विद्यमानतामें ही घटकी उपलब्धि होती है।' इस विधानका काट लेखिका ने यह कह कर किया है कि "This statement does not embody truth in its entirety, since a 'mirage' may be perceived, but its perception cannot prove its existence nor reality". (The Phil. of V. p. 114), अर्थात् यह नियम नहीं है कि वस्तुकी उपलब्धि या प्रत्यक्ष उसके विद्यमान होनेपर ही हो क्योंकि मरुमरीचिका (में जल) का प्रत्यक्ष हो सकता है किन्तु इसके प्रत्यक्ष होने से इसका सत्ताशील या सत्य होना सिद्ध नहीं हो सकता।

"एवं प्राप्ते ब्रूमः, '**नाभाव उपलब्धेः**' इति। न खलु अभावो बाह्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते। कस्मात्? उपलब्धेः। उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थः—स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति। न चोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति। यथा हि कश्चिद् भुञ्जानो भुजिसाध्यायां तृप्तौ स्वयमनुभूयमानायामेवं ब्रूयान्नाहं भुञ्जे न वा तृप्यामीति, तद्वदिन्द्रिय-

सन्निकर्षेण स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थं नाहमुपलभे न च सोऽस्तीति ब्रुवन् कथमुपादेय-वचनः स्यात् । ननु नाहमेवं ब्रवीमि न कञ्चिदर्थमुपलभ इति किन्तूपलब्धिव्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि । बाढमेवं ब्रवीषि, निरङ्कुशत्वात्ते तुण्डस्य !" (ब्रह्मसूत्रशाङ्कर-भाष्य २।२।२८) ।

'प्रखरज्ञानमार्तण्ड' लेखिकापर ही यहाँ नाराज़ हो रहे हैं अतः हमारा अनुरोध है कि ऐसी स्थितिमें श्रीवल्लभाचार्यको थोड़ा सा 'रैशनल कन्सेशन' दे देना चाहिये !

पृष्ठ ११५ पर '**इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः**' (ब्रह्मसूत्र २।१।२१) तथा '**अधिकं तु भेदनिर्देशात्**' (ब्रह्मसूत्र २।१।२२) सूत्रोंपर श्रीगिरिधरजी द्वारा दिये गये इस समाधानपर कि जीव और ब्रह्म के बीच भेद भी है (अवस्थाकृत), और अभेद भी (तत्त्वकृत), प्रश्नचिह्न लगाती हुई लेखिका कहती हैं कि "तो शुद्धाद्वैतके बजाय द्वैताद्वैत या भेदाभेद ही क्यों नहीं ?" "**कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति । नन्वभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः—'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः । कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ सम्भवेयाताम्? नैष दोषः, आकाशघटाकाशन्यायेन उभयसम्भवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात् ।**" (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।१।२२) । यहाँ यदि हम प्रश्न पूछें कि तो फिर '**उभय**' अर्थात् भेदाभेद होनेपर केवलाद्वैत क्यों, द्वैताद्वैत क्यों नहीं ? यदि आकाश और घटाकाश जैसे उदाहरण ही सभी शङ्काओंके समाधान हों तो मृत्तिका और घट के उदाहरण तो श्रीवल्लभाचार्यने भी दिये ही हैं । यदि अद्वैत पारमार्थिक है तथा द्वैत व्यावहारिक, तो श्रीवल्लभाचार्यके मतमें भी अद्वैत स्वाभाविक है और द्वैत ऐच्छिक । अतः द्वैताद्वैतके साथ कुछ विशेषण जोड़ देनेसे ही मत द्वैताद्वैत न रहता हो तो वह तो श्रीवल्लभाचार्यजीने भी जोड़े ही हैं । यदि कहा जाये कि अद्वैत तो पारमार्थिक है जबकि द्वैत तो मिथ्या है अतः श्रीशङ्कराचार्यका मत द्वैताद्वैत या भेदाभेदवाद नहीं है तो हम क्या बतायें स्वयं लेखिका भी जानती हैं कि 'मिथ्या' का अर्थ 'न होना' नहीं किन्तु सदसद्विलक्षण है, अतः ऐसी स्थितिमें द्वैत है ही नहीं यह तो कहा नहीं जा सकता, जबकि व्यावहारिक द्वैत है यह तो कहा भी जाता ही है, तो श्रीशङ्कराचार्यका मतभी द्वैताद्वैत क्यों नहीं ? वैसे थोड़ा भी लक्ष्यपूर्वक पढ़ा जाये तो यह स्पष्ट हो सकता है कि अणुभाष्य अभेदवादका नहीं किन्तु तादात्म्यवादका प्रतिपादक ग्रन्थ है और जगत्, जीव तथा ब्रह्म के बीच तादात्म्यसम्बन्धको ही श्रीवल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत कहते हैं यह जाना जा सकता है ।

इसी पृष्ठपर लेखिका कहती हैं कि 'जीव और ब्रह्म में अभेद है फिर भी ब्रह्म किसी जीवको सुखी बनाता है और किसीको दुःखी' इस आशङ्काका शुद्धाद्वैती यह समाधान देते हैं कि स्वयं मनुष्य भी तो अपने शरीरके किसी अङ्गको सम्हाले रखता है और नखकेशादिको काटकर अलग भी कर देता है ऐसे ही ब्रह्म भी करता है, किन्तु वे यह

भूल जाते हैं कि नखकेश तो जड़ हैं जब कि जीव तो सभी चेतन—दुःखानुभूतिक्षम हैं। लेखिका कहती हैं,

"Again, the 'Divine Sport' which *necessitates* the imposition of suffering upon some jīvas *just* for the fulfilment of His desire to sport is hard to conceive." (The Phil. of V. p. 115).

आइये, हम वही बात करें जो लेखिकाको 'कन्सीवेबल' (conceivable) हो, "**अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसङ्घातोपाध्यविवेककृता हि भ्रान्तिर्हिताकरणादिलक्षणः संसारो न तु परमार्थतोऽस्तीत्यसकृदवोचाम।**" (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।१।२२)। अब जब जीवकी सारी 'सफ़रिंग' (suffering) अविद्याकृत—मिथ्या है परमार्थतः कोई भी जीव दुःखी है ही नहीं, अर्थात् जब दुःखी होनेकी प्रतीति ही मिथ्या है तो ऐसे मिथ्या दुःखको अपनी दिव्य लीलाके मूडमें जीवपर चाहे ब्रह्म 'इम्पोज़' (impose) करे या माया इससे अन्तर क्या पड़ता है ? इतना तो सभी जानते हैं कि संसार, दुःख, जन्ममरणका अभिमान जैसे श्रीशङ्कराचार्यके मतमें अविद्याप्रयुक्त भ्रान्ति है वैसे ही श्रीवल्लभाचार्यके मतमें भी अविद्याप्रयुक्त भ्रान्ति ही है। 'सफ़रिंग' (suffering) मिथ्या है, उसे 'इम्पोज़' (impose) माया करती है ब्रह्म नहीं यही लेखिकाको अपनी 'रैशनलिटी' (rationality) लगती हो तो ठीक है अन्तर क्या पड़ता है ! हाँ, एक अन्तर अवश्य है कि श्रीशङ्कराचार्यकी माया जिस 'सफ़रिंग' (suffering) को अविद्याविलासके रूपमें 'इम्पोज़' (impose) करती है वह 'सफ़रिंग' (suffering) परमार्थतः न तो है और न नहीं है **केवल व्यावहारिक है**। जब कि श्रीवल्लभाचार्यका ब्रह्म अपनी लीलाके लिए जिस 'सफ़रिंग' (suffering) को 'इम्पोज़' (impose) करता है वह **है ही नहीं** क्योंकि इनके मतमें 'मिथ्या' का अर्थ है 'जो नहीं हो !' रही बात उदाहरणमें केशनखके जड़ होने की, तो हम अपनी ओरसे कुछ नहीं कहना चाहते, लेखिका स्वयं अपने विधानोंको देखें,

"but the very idea of analogy is based on points of similarity as against those of difference. Points of differentiation must be present between the illustration and the thing illustrated, as the very definition of a simile demands 'साधर्म्यमुपमा भेदे,' but when a thing is compared with another, only those aspects that constitute similarity have to be understood and not others. Therefore, it is but appropriate when Ś. says "so far" and no further." (The Phil. of V. p. 120)

एक त्रुटिकी क्षमायाचना मुझे करनी चाहिये कि लेखिकाका यह बचाव श्रीशङ्कराचार्यके लिए 'रिज़र्व' (reserve) है अतः यदि लेखिका श्रीवल्लभाचार्यके लिए इसके

प्रयोग की अनुमति न दें तो "All rights reserved for Śaṅkarācārya" नियमके उल्लङ्घनका मैं अपराधी हूँ। श्रीवल्लभाचार्य जड़चेतनके अंशमें उदाहरण देना ही नहीं चाहते क्योंकि (१) ब्रह्मदृष्टिसे लौकिक सुखदुःखानुभूति मिथ्या संसार है अतः है ही नहीं (२) ऐच्छिक द्वैतप्रयुक्त जीवके बारेमें एकदूसरेसे अलग होनेका भान जीवको ही है ब्रह्मको नहीं अतः ब्रह्मके लिए सभी जीव स्वयं अपने अङ्गके समान हैं। अतः भेदभावका प्रश्न नहीं उठता। उदाहरण इस अर्थमें है कि नखकेश काटते समय मनुष्य निर्मम नहीं होता, उन्हें अपना मानते हुए भी काटता है। बात समझनेका यत्न हो तो इस उदाहरणको छोड़कर सिर-पैरके उदाहरणसे भी बात समझी जा सकती है कि किसी का किसी अन्य व्यक्तिके सिरपर हाथ रखना उसे छोटा माननेका द्योतक है, अपमानार्थ है, जबकि पैरपर हाथ रखना उसके सम्मानार्थ होगा—कम-से-कम भारतमें, यद्यपि दोनों अङ्ग उसीके हैं पर यह अन्तर लोकप्रथावश माना जाता है। परन्तु श्रीवल्लभाचार्य-के लिए **'साधर्म्यमुपमा भेदे'** मेंसे केवल **'साधर्म्य'** की ही अनुज्ञा हो तो यहाँ भी लोक-प्रथावश उच्चनीचभावकी दर्शनके प्रमुख प्रश्नोंके साथ तुलना नहीं की जा सकती यह कहा जा सकता है। **'भेदे'** की अनुमति केवल श्रीशङ्कराचार्यको ही हो तो हम भी मान लेते हैं कि शुद्धाद्वैतीकी ये नहीं बल्कि सारी उपमायें ग़लत हैं, बल्कि उन्हें उपमा ही नहीं देनी चाहिये, किन्तु इसमें भय यही है कि फिर कोई पी-एच्० डी० कैसे हो पायेगा ?

अतएव जीवके उच्चनीचभावके उदाहरणसूत्रमें भी उपमालोचन है। हमें कुछ नहीं कहना केवल दो उदाहरणोंसे हमारा कार्य सिद्ध हो जाता है,

(१) "यथा च लोके पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्यश्मनां केचिन्महार्हा मणयो वज्रवैडूर्यादयोऽन्ये मध्यमवीर्याः सूर्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणाः श्ववायसप्रक्षेपणार्हाः पाषाणा इत्यनेकविधं वैचित्र्यं दृश्यते·······एवमेकस्यापि ब्रह्मणो जीवप्राज्ञपृथक्त्वं कार्यवैचित्र्यं चोपपद्यत इत्यतस्तदनुपपत्तिः,····।" (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।१।२३)।

(२) "पार्थिवत्वाविशेषेऽपि हीर-माणिक्य-पाषाणानां····उच्चनीचत्वमेवं जीवस्य अंशत्वाविशेषेऽपि ब्रह्मादिस्थावरान्तानामुच्चनीचत्वं कार्यवैलक्षण्यम्।" (अणुभाष्य २।१।२३)।

'पृथिवीत्वसामान्य' और 'पार्थिवत्वाविशेष' में या 'वज्रवैडूर्यसूर्यकान्तश्ववायसाप्रक्षेपणा-र्हपाषाणाः' और 'हीरमाणिक्यपाषाणानाम्' में या 'वैचित्र्य' और 'उच्चनीचत्व' में या 'कार्यवैचित्र्य' और 'कार्यवैलक्षण्य' में, उपमा-उपमेयभावमें कहाँ अन्तर है यह समझमें नहीं आता।

पृष्ठ एक-सौ-सोलहपर लेखिका श्रीवल्लभाचार्य द्वारा उद्धृत भागवतपुराणके वाक्यके सम्बन्धमें कहती है,

"He eloquently enjoins maximun attention to the scriptural authority." (The Phil. of V. p. 116)

पृष्ठ एक-सौ-सत्रहपर लेखिका कहती हैं कि परमतनिराकरणके अन्तर्गत पाञ्चरात्र मतके चतुर्व्यूह (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) के आधारपर सृष्टिकी व्याख्या करनेके सिद्धान्तकी आलोचना करते समय अणुभाष्यकार युक्तिका सहारा न लेनेके अपने सिद्धान्तको छोड़कर युक्तिका सहारा लेते हैं और इस चतुर्व्यूहके सिद्धान्तको तोड़ते समय अपने ब्रह्मके सर्वभवनसामर्थ्य तथा विरुद्धधर्माश्रयत्व को भी बीचमें लानेमें हिचकिचाते हैं । वैसे तो प्रखरज्ञानमार्तण्ड भी जब फँस जाते हैं तो तर्कका सहारा छोड़ श्रुतिकी ही शरणमें जाते हैं । अणुभाष्यकार यहाँ युक्ति दे रहे हैं, जैसे सर्वत्र ही देते हैं । यहाँ लेशतः भी विचारप्रक्रियामें अन्तर नहीं है । फिर भी यदि प्रतीत हो रहा हो तो उसका समाधान यही है कि स्वमतस्थापनार्थ केवल श्रुति ही प्रमाण है । जो मत श्रुतिको अपना आधार नहीं मानते उनके निराकरणार्थ श्रुतिका उपयोग ही कैसे होगा ? और होगा भी तो इसी रूपमें कि, 'तदेवमसारतरतर्कसंदृब्धत्वात्....श्रुतिविरुद्धत्वात् श्रुतिप्रवणैश्च शिष्टैर्मन्वादिभिः अपरिगृहीतत्वाद् अत्यन्तमेवानपेक्षा....कार्या श्रेयोऽर्थिभिः' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।२।१७) । वैसे ही सर्वभवनसामर्थ्य और विरुद्धधर्माश्रयता के सिद्धान्तका उपयोग प्रस्थानचतुष्टयकी व्याख्यामें ही होता है प्रस्थानचतुष्टयविरुद्ध मतोंकी व्याख्याके लिए नहीं ।

पृष्ठ ११९ पर लेखिका पूछती हैं कि, 'मोक्षावस्थामें आनन्दांशाभिव्यक्तिके कारण जीवोंकी जो व्यापकता प्रकट होती है उसमें दो जीवोंमें अभेद माना जायेगा या भेद ? क्योंकि दोनों ही व्यापक हो गये हैं तो यह प्रश्न उठता है ।' वस्तुतः यह प्रश्न ही ग़लत है कि भेद मानते हो या अभेद, क्योंकि श्रीवल्लभाचार्य न भेद मानते हैं और न अभेद, वे तो तादात्म्य मानते हैं । बावजूद इसके इस प्रश्नको बुद्धिमत्तापूर्ण प्रश्न मानकर चलें तो भी दो या दस व्यापक नहीं हो सकते ऐसा किसी भी दर्शनका नियम नहीं है । न्यायमतमें ईश्वर, अनेक जीवात्मायें, काल, दिशा, आकाश आदि कई व्यापक पदार्थ माने गये हैं । स्वयं अद्वैतमें भी केवल ब्रह्म ही व्यापक नहीं है किन्तु मिथ्या होते हुए भी माया आदि व्यापक ही मानने पड़ेंगे । सांख्यमतमें भी सभी पुरुष व्यापक माने गये हैं । व्यापकता और भेदाभेद का प्रश्न ही क्या है ? दो व्यापक तो मैं ही निश्चितरूपमें देख रहा हूँ (१) श्रीशङ्कराचार्यका निर्गुण निराकार ब्रह्म और (२) लेखिकाका दर्शनशास्त्रीय अज्ञान ! रही बात यह कि जगत्में जीवकी व्यापकता तिरोहित है या नहीं । तिरोहित तो है ही अतएव उसे 'अणु' कहा जाता है । यह कहाँकी युक्ति है कि व्यापकता तिरोहित है तो जीव अणु नहीं और अणु है तो व्यापकता तिरोहित नहीं ! लेखिका कहती हैं कि जीवमें आनन्दांशके तिरोधानके कारण, यदि श्रीवल्लभाचार्य, जीवको अणु मानते हों तो इसका स्पष्टीकरण ठीकसे नहीं हो पाता है कि अनेक जीवोंका भेद इससे कैसे सिद्ध होगा ? तो ऐसी तो कई प्रारम्भिक बातें हैं जिन्हें समझे विना

लेखिका व्यर्थ पी-एच्० डी० के लोभमें अणुभाष्यालोचन करने बैठ गयीं हैं, अन्यथा निबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणमें ही यह समझा दिया गया है कि आगमेंसे विस्फुलिंगकी तरह कई—अनन्त सच्चिदानन्दांश ब्रह्ममेंसे व्युच्चरित होते हैं और बादमें उनमें आनन्दांशका तिरोभाव होता है तो संख्याप्रयुक्त भेद तो व्युच्चरणकालमें ही आ जाता है। आनन्दांशतिरोधानके बादमें तो पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदसे सभी जीवोंका स्वभावभेद भी आ जाता है। पर बुद्धिको श्रम नहीं देना हो तो यह एक क्या सारा वेदान्त दर्शन ही लेखिकाके लिए 'unexplained' है। व्यापकताके 'connotation' में गड़बड़ी अणुभाष्यकारकी नहीं है प्रत्युत दुर्भाग्यवश लेखिकाको 'connotation' का अर्थ ही नहीं ज्ञात है।

पृष्ठ १२० पर लेखिकाने श्रीशङ्कराचार्यके समर्थनमें दो बड़े ही विचित्र विधान किये हैं।

(1) But as regards consistency in the system itself, there is nothing that is challengeable. (The Phil. of V. p. 120).

(2) Again, if 'kartṛtva' were really natural, as is common experience and understanding, it is not necessary for the scriptures to prove it, just as one does not require the scriptures to teach him that the fire is hot. So, it is only what can not be known through other means that scriptures profess to teach." (The Phil. of V. p. 120).

धन्य है यह Consisteney (परस्परसङ्गति या संवादिता) कि एक ही बात श्रीवल्लभाचार्यपर आरोपके रूपमें कही जाती है और श्रीशङ्कराचार्यकी प्रशंसाके रूपमें ! अभी तो पृष्ठ भी बहुत दूर नहीं गये हैं, केवल तेरह पृष्ठ पहलेका विधान देखने लायक़ है,

"V. is seen to be harping on the same string, *viz.* the impropriety of accepting reasoning as a means to the knowledge of Br. and the non-application of contradiction to Br. who is an abode of contradictory attributes. Thus, it is from V. himself that one comes to know that reason has no place in his system. According to V., śabda is the only authoritative means—but it is curious to note that V. spent such great energy only upon the task of refutation and negation of the efficacy of reasoning as such, while thereby trying to strengthen the force of śruti." (The Phil. of V. pp. 107-108).

"This attitude to cling to the word of the śruti has thus led V. to formulate principles, which completely put reasoning out

of court and hence they hardly remain acceptable." (The Phil. of V. p. 318).

यदि लेखिकाके ही शब्दोंमें कहूँ तो, "but it is only too often that *she* feels compelled by *her* own extremely *irrational clinging to Śaṅkarācārya* to sacrifice reason to the final and "vetoing" power of *(Śaṅkarācārya's*) testimony as understood by *her*[1]".

यदि श्रुति इतर प्रमाणोंसे न जाने जा सकनेवाले प्रमेयकी निरूपक होनेके कारण ही प्रमाण है तो जैसे सामान्य अनुभव तथा समझ के विरुद्ध भी जीव अकर्ता ही है ऐसे ही सामान्य अनुभव और समझ के विरुद्ध ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रय क्यों नहीं बन सकता ? इस तरहकी असम्बद्ध बातोंसे भरी इस थीसिसका एम्० ए० के लिये पाठ्यपुस्तक होना भी एक विश्वविद्यालयका अपमान है ।

पृष्ठ १२८ पर लेखिका कहती हैं कि श्रीशङ्कराचार्यका अर्थ सूत्रानुकूल नहीं है और फिर सफ़ाई देती हैं कि हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि इस सूत्रकी शब्दावलि ही अस्पष्ट है । यह तो खुले पक्षपात और अज्ञान का खुला प्रदर्शन है ।

पृष्ठ १३५ पर लेखिकाने भागवतानुसारी अर्थपर जो अपना धर्मयुद्धोन्माद प्रकट किया है उसका उत्तर तो हम पहले ही दे चुके हैं । इसीलिए पृष्ठ १४१ एवं १४४ पर भागवतानुसारी अर्थका जो उल्लेख एवं आरोप है उसका भी परिहार उसीसे हो जाता है । इसी तरह पृष्ठ १४५ पर व्यर्थ ही ब्रह्मसूत्र ४।१।४ के पाठभेदको विना कोई हेतु दिखलाये अस्वाभाविक कह दिया गया है !

पृष्ठ १४८ पर लेखिका मानवीय प्रयत्नके मूल्यका विचार करते हुए कहती हैं कि 'ईश्वरके अगाध ऐश्वर्यकी बलिवेदीपर श्रीवल्लभाचार्य मानवीय प्रयत्नोंके मूल्योंका बलिदान कर देते हैं ।' इसके साथ ही साथ उन्होंने यह भी लिखा है कि "किन्तु ऐसा करके श्रीवल्लभाचार्यने यहाँ उपस्थित समस्यापर लक्ष्यपात करवाया है तथा ब्राह्मण-उपनिषद् ग्रन्थोंमें प्रारम्भसे ही कर्मसिद्धान्तविदोंको उलझाये रखने वाले कर्मसिद्धान्तके समाधानका प्रयत्न भी किया है । कर्मफलके स्थानान्तरणका सिद्धान्त ब्राह्मण-उपनिषद् ग्रन्थोंमें भी मिलता है किन्तु यहाँ मुख्य बात श्रीवल्लभाचार्यका इस तथ्यको लक्ष्यगत करना है कि 'कर्म' और 'फलभोग' के बीच जो एक 'नियत कड़ी' सामान्यतया मानी जाती रही है वह स्वाभाविक—तार्किक नियत नहीं है किन्तु ईश्वरकी स्वतन्त्र इच्छासे निर्धारित है ।" एक ही अनुच्छेदमें ये दो विधान परस्परविरुद्धधर्मोंके आश्रय श्रीवल्लभाचार्यके ब्रह्मकी तरह तर्कागम्य ही हैं ! न जाने कर्मफलके स्थानान्तरणका सिद्धान्त श्रीवल्लभाचार्यका है या ब्राह्मण-उपनिषद् ग्रन्थोंका !! न जाने श्रीवल्लभाचार्य असमाधेय प्रश्नोंको पैदा

---

1. स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम और इटैलिकमें छपे शब्द मेरे हैं । लेखिकाके वाक्यके लिए देखें, The Phil. of V. p. 318. (लेखक).

करते हैं या उसका समाधान देते हैं जो आरम्भसे कर्मसिद्धान्तविदोंको उलझाये हुए था !!! मुझेतो लगता है कि प्रथम विधान स्वयं लेखिकाका है और द्वितीय विधान किसी अन्य व्यक्तिका जिसे, जैसे श्रीमध्वाचार्यके **'भ्रान्तिमूलतया....'** श्लोकको कृतज्ञताज्ञापनके विना श्रीवल्लभाचार्य अपना लेते हैं (द्रष्टव्य, The Phil. of V. p. 113) ऐसे ही लेखिकानेभी विना कृतज्ञताज्ञापनके कहीं से ले लिया है और वह भी अज्ञानकी बलिवेदीपर सुसम्बद्धताका बलिदान करते हुए[1]।

कितनी बार कहें कि यहाँ श्रीवल्लभाचार्य अपना कोई स्वतन्त्र मततो कहने बैठे नहीं हैं—वे तो केवल श्रुतिकी व्याख्या कर रहे हैं। श्रुतितो शाङ्करभाष्यमें भी उद्धृत ही है—**'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्'** (ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य ४।१।१७)। फिर यदि यह आरोप वस्तुतः श्रीवल्लभाचार्यपर न होकर श्रुतिपर हो तो लेखिकाके लिए वेदान्तपर थीसिस लिखना ही सम्भव नहीं रह जायेगा क्योंकि वेदान्त उसी दर्शनका नाम है जिसमें श्रुतिको प्रमाण मानकर चला गया है। प्रखरज्ञानमार्तण्ड होकर श्रुतिके मनमाने अर्थ लगाना स्वयं श्रीशङ्कराचार्यको भी अभिप्रेत नहीं है। इसके बावजूद जब लेखिका इसी पृष्ठपर कहती हैं कि,

"It also lays bare the overwhelming importance that V. attaches to the "Divine Wish" and God's grace which can do and undo anything—even in direct opposition to the Law of Karma, to which V. himself subscribes, since it forms one of the very basic tenets of the 'Vedānta.' (The Phil. of V. p. 148).

तो मुझे अत्याश्चर्य होता है कि क्या लेखिकाको 'वेदान्त' का शब्दार्थ भी मालूम नहीं ! श्रुतिपादित सिद्धान्त ही 'वेदान्तदर्शन' कहलाता है। जैसे कर्मसिद्धान्त श्रुतिप्रति-

---

1. This is a peculiar conception of God and His powers. It again leads us back to the question of the value of human endeavour which is so readily sacrificed at the altar of the "unfathomable majesty of the Lord" by V. But in so doing here, V. shows glimpses of the problems (and attempts at solutions) of the theory of karma which have beset the karma theoreticians right from its beginnings in the brāhmaṇa-upaniṣad literature. The idea of transfer of the karma-fruits has its root there too. But the chief point here is V.'s insight into the fact that the generally accepted 'necessary link' between 'karma' and 'bhoga' (as usually understood) is not an intrinsically-logically necessary one, but one due to a free determination of the will of God." (The Phil. of V. p. 148).

पादित है वैसेही कर्मफलस्थानान्तरण भी श्रुतिप्रतिपादित है फिर वेदान्तविरोध क्यों ? बाक़ी श्रीवल्लभाचार्यको अभीष्ट समाधान—'मानवीय तर्क ईश्वरीय तर्ककी तुलनामें अत्यन्त निम्नतम है' (The Phil. of V. p. 149) का ठोस होना अणुभाष्य और लेखिकाकी थीसिसकी तुलना करने मात्रसे ही स्पष्टतया सिद्ध हो सकता है !

पृष्ठ १५० पर पुनः भागवतानुसारी सूत्रार्थ और स्वतन्त्रकल्पितसूत्रार्थ की तुलना कर वाल्लभ और शाङ्कर व्याख्याओं को समानरूपसे दोषी ठहराया गया है। परन्तु हम देख चुके हैं कि स्वतन्त्रकल्पनाश्रित अर्थ न तो श्रीशङ्कराचार्यको मान्य है और न श्रीवल्लभाचार्यको, जब कि पुराणानुसारी अर्थके बारेमें न श्रीशङ्कराचार्यको कोई आपत्ति होगी और न श्रीवल्लभाचार्यको हिचक। 'क्रोनोलॉजी' (Chronology = ऐतिहासिक क्रम) की चर्चा तो वेदान्तके अज्ञानसे प्रसूत है यह हम दिखला ही चुके हैं।

पृष्ठ १५२ पर इस अज्ञानसागरमें एक अतर्कित वाक्यतरङ्ग उठी है।

"The afore-said passage (r) throws overboard the claim of the Śuddhādvaitins that their doctrine of Pure Monism represents the intention of the Sūtrakāra." (The Phil. of V. p. 152).

यह प्रसङ्ग ब्रह्मकी रसरूपता और भक्तके भगवान्‌के विरहके निरूपक भाष्यमें है जो लेखिकाके अनुसार सूत्रोंका आशय नहीं किन्तु भागवतार्थका सूत्रोंपर आरोप है। थोड़ी देरके लिए भागवतानुसारी सूत्रार्थकी सर्वमान्य परम्पराको भूल भी जायें तो इससे यह कैसे सिद्ध होगा कि सूत्रोंका तात्पर्य या प्रतिपाद्य विषय शुद्धाद्वैत नहीं है ? शुद्धाद्वैतकी चर्चा तो तदनन्यत्वाधिकरणमें है यहाँ नहीं !

पृष्ठ १५३ पर लेखिका कहती हैं कि पुष्टिमार्ग और मर्यादामार्ग का प्रभेद, जो श्रीवल्लभाचार्य सूत्रोंपर थोपते हैं, श्रीशङ्कराचार्यके निर्गुणमोक्ष और सगुण ईश्वर की प्राप्ति के समान ही है—इस महान् अन्तरके साथ कि वाल्लभ व्याख्यान अत्यधिक वैष्णवमतानुसारी होनेके कारण असौत्र है, जब कि शाङ्करव्याख्यान सूत्रकारसम्मत न भी हो तो भी कम-से-कम इस प्रकारके बाह्यप्रभावोंसे मुक्त है और केवलाद्वैतमें सुसङ्गत है। यहाँ तीन बातें कही गयी हैं—(१) पुष्टिमर्यादाका प्रभेद शाङ्कर मतके सगुणनिर्गुणके समान ही है। (२) वाल्लभ व्याख्यान वैष्णवमतानुसारी है जब कि शाङ्कर व्याख्यान नहीं, यद्यपि दोनों ही सूत्रकारके आशयके अनुरूप नहीं हैं। (३) शाङ्कर व्याख्यान स्वसिद्धान्तके सन्दर्भमें सुसङ्गत है (जब कि वाल्लभ व्याख्यान नहीं)।

प्रथम आक्षेपका परिहार यह है कि पुष्टिमर्यादाभेदमें तारतम्य परमार्थ और मिथ्या का नहीं है—जो सगुण और निर्गुण के भेदमें शाङ्कर मतमें है—अतः दोनोंमें महान् अन्तर है।

द्वितीय आक्षेपका परिहार यह है कि 'वैष्णवत्व' गाली नहीं है। अन्यथा 'शाङ्करत्व' भी एक गाली होगी। इसके अलावा दूसरी बात यह है कि एक बार यह स्वीकार कर

लेने पर कि शाङ्कर व्याख्यान सूत्राभिप्रेत नहीं है, वह स्वयं श्रीशङ्कराचार्यके मतके अनुसार हो या वैष्णवमतके अनुसार, व्याख्यानके अप्रामाणिक होनेमें क्या अन्तर पड़ेगा ?

तीसरे आक्षेपमें केवल प्रतिज्ञा ही दिखलायी देती है हेतु नहीं अतः हम भी केवल प्रतिज्ञासे ही अपना काम चला लेंगे कि वाल्लभ व्याख्यान स्वसिद्धान्तानुरूप है, जबकि शाङ्कर व्याख्यान नहीं। और उसपर भी सन्तोष न होता हो तो एक और हेतुरहित प्रतिज्ञा कर लेंगे कि लेखिकाका यह विधान ग़लत है !

इसी पृष्ठपर **'उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः'** (ब्रह्मसूत्र ४।३।६) पर वाल्लभ व्याख्याकी आलोचना की गयी है।

"This explanation is typical of V.'s predestinarianism, and even on V.'s own terms, seems naive and lacking in depth. The Lord, with His Omniscience, would not have created such a 'Devayāna' unless he had foreseen (even without having to force anyone) that some jīvas would, of their own, freely choose to enter upon it. But V. seems to be the prey of his own principles—since he cannot admit such a free choice in his system. Hence his naivity looks rather like helpless clinging to his own system of the type that makes one suspect that there is something wrong with the very assumptions of a system that inevitably leads to such startling consequences". (The Phil. of V. pp. 153-154).

सूत्राशय गोचर होनेपर भी स्वयं अपने सिद्धान्तोंके सन्दर्भमें श्रीशङ्कराचार्यके व्याख्यानकी सुसम्बद्धता लेखिका खोजती रहती हैं, पर किसी सूत्रकी व्याख्या यदि श्रीवल्लभाचार्य अपने सिद्धान्तोंके सन्दर्भमें करते हैं तो वह उनकी सुसम्बद्धता नहीं किन्तु 'helpless clinging to his own system' है !

रही बात वाल्लभ व्याख्यामें गहराई देखनेकी तो उसके लिए तो स्वयं दृष्टिमें गहराईकी आवश्यकता है जो दुर्भाग्यसे लेखिकामें है ही नहीं। यह अब अधिक स्पष्टताकी अपेक्षा नहीं रखता। और अवशिष्ट आपत्ति तो **'कर्ता कारयिता हरिः'** के सिद्धान्तानुसार स्वतः-समाहित है। 'naivity' का आरोप भी **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।'** है।

पृष्ठ १६२ की पादटिप्पणीमें लेखिकाने तत्त्वार्थदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणकी चौंतीसवीं कारिकाकी आवरणभङ्ग टीकापर असम्बद्धताका आरोप लगाया है और स्वयं (!) ही उसके परिहारका भी निर्देश किया है—वैसे परिहार प्रामाणिक है अतः हमें कुछ अधिक नहीं कहना है किन्तु जिस पक्षके अज्ञानवश उन्होंने आक्षेप किया है उसपर थोड़ा लक्ष्यपात अभीष्ट है। लेखिका कहती हैं, "It is curious that the followers of Śuddhādvaita maintain Māyā to be a power of the

Lord, when they do not accept Māyā to be the material cause—and yet explain it as 'देहारम्भकधातुकारणभूता'—which does not mean anything but the material cause". (The Phil. of V. p. 162).

यहाँ द्रष्टव्य यह है कि इस आक्षेपमें तीन बातें आयी हैं। (१) शुद्धाद्वैती मायाको भगवान्की शक्ति मानते हैं। (२) शुद्धाद्वैती मायाको (जगत्का) कारण नहीं मानते। (३) श्रीपुरुषोत्तमजी आवरणभङ्गमें **'देहारम्भकधातुकारण'** मायाको मानते हैं जो उपादानकारणका ही एक दूसरा नाम है। इन तीनों वाक्योंको जोड़कर लेखिका कहती हैं कि यह सब आश्चर्यजनक है। यह वस्तुतः आश्चर्यजनक है कि यह लेखिकाको आश्चर्यजनक लगता है !

(१) शुद्धाद्वैती मायाको भगवान्की शक्ति न मानें तो किसकी मानें जिससे लेखिकाको आश्चर्यचकित न होना पड़े ? जबकि शुद्धाद्वैतका मतलब ही यही है कि सब कुछ भगवान्के विभिन्न रूप या सामर्थ्य ही हैं। न जाने इसमें कौन सी आश्चर्यकी बात है। यदि इस प्रथम वाक्यको अन्य दो वाक्योंमेंसे किसी भी एक वाक्यके साथ जोड़ें तो भी कोई आश्चर्यकी बात हमें तो दिखलाई नहीं देती क्योंकि स्वयं श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार माया' शब्दके कई अर्थ हैं और 'माया भगवान्की शक्ति है' कहनेका मतलब यही है कि भगवान्की शक्तिका ही एक नाम 'माया' भी है। मायाको कारण नहीं माना गया उसका अर्थ यही होता है कि ब्रह्म से पृथक् मिथ्या माया जगत्का कारण नहीं है। अब इन दोनों विधानोंको एक साथ जोड़ने पर कौन-सी ऐसी अनहोनी बात बनती है कि लेखिकाको आश्चर्य होता है !

श्रीपुरुषोत्तमजी जिस मायाको **'देहारम्भकधातुकारणभूता'** (शास्त्रार्थप्र० प्र० आवरण-भङ्ग, ३४) कहते हैं वह स्वयं 'माया' शब्दका एक अन्य अर्थ है। 'माया' शब्दका अर्थ प्रकृति भी होता है। यह प्रकृति-पुरुष युगलमेंकी प्रकृति है जो भगवान्का सदंश है और जगत्का उपादान कारण भी है। 'मृत्तिका घड़ेका उपादान कारण है' कहनेसे, 'ब्रह्म जगत्का उपादान कारण नहीं है' ऐसा तो फलित नहीं होता। क्योंकि मृत्तिकारूप ब्रह्म घटरूप ब्रह्मका उपादान कारण है ही। ठीक इसी तरह प्रकृतिरूप ब्रह्म देहारम्भक धातुओं-का कारण है, जहाँ प्रकृति और देह दोनों ही ब्रह्मात्मक हैं। ऐसी स्थितिमें इस वाक्य-को प्रथम वाक्य—माया भगवान्की शक्ति है—के साथ जोड़ने पर भी, आश्चर्यकी बात क्या है यह समझमें नहीं आता ! बाक़ी इस आक्षेपका परिहार स्वयं लेखिकाने अथवा अन्य किसी महानुभावने जो बादमें जोड़ा हो तो वह भी ठीक ही है, अतः हमें इस विषयमें अन्य कुछ नहीं कहना है।

पृष्ठ १६३ पर लेखिकाके एक विचित्र अज्ञानका प्रदर्शन है। पादटिप्पणीमें लेखिका कहती हैं कि योजना टीकाके लेखक श्रीपुरुषोत्तमजी हैं। यह ग़लत बात है। योजना-कार श्रीलालूभट्ट हैं।

पृष्ठ १६७ पर पादटिप्पणीमें,

'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति' (कठोप० ३।१।३) ।

इत्यादि वाक्यमें आवरणभङ्गकारके 'छाया' का अर्थ 'कान्ति' करनेके बारेमें लेखिका कहती हैं,

"It is rather unusual to interpret the word 'chāyā' (which has been used in conjunction with 'ātapa' or 'sun-shine') to mean 'lustre' (kānti), when it clearly expresses the opposite of 'lustre' ". (The Phil. of V. p. 167).

मगर **'आतपाभावे, कान्तौ, प्रतिबिम्बे, पालने, उत्कोचे, पङ्क्तौ**, **संज्ञाप्रतिरूपायां सूर्यभार्यायाम्**, **ऊनत्रिशाक्षरपादके छन्दोविशेषे च'** (शब्दस्तोममहानिधिः, पृष्ठ १७८) कहकर कोष भी 'छाया' का एक अर्थ 'कान्ति' है यह स्वीकार करता है । वैसे तो प्रतिबिम्ब अर्थ भी कोषाप्त है । मगर उसे स्वयं श्रीशङ्कराचार्य भी इस श्रुतिके व्याख्यान-में अपनाते नहीं हैं[1], प्रत्युत विरुद्धस्वभावद्योतनार्थ गौण प्रयोग मानते हैं । तो गौणार्थके बजाय अभिहितार्थ क्या खोटा है ? वैसे धूप—आतपके साथ विरोधार्थमें प्रयुक्त 'छाया' शब्दका विरोधार्थमें ही आग्रह हो तो फिर अन्धकार या प्रकाशाभाव अर्थ लेना होगा जो स्वयं प्रखरज्ञानमार्तण्डको स्वीकार्य नहीं है । फलतः अन्ततः आतप और छाया दोनोंके ही अर्थोंको छोड़कर केवल 'विरुद्धस्वभाव' में लक्षणा माननेके बजाय एक भी शब्दके अर्थको छोड़े विना व्याख्यान करनेमें क्या अस्वाभाविकता है यह समझमें नहीं आता !

पृष्ठ १७० पर ऊटपटाँग युक्तियोंकी चरम सीमापर खड़ी होकर लेखिका कहती हैं,

'कर्ता स्वतन्त्र एव स्यात् सगुणत्वे विरुध्यते' (v. 77). Now, if this were accepted, does it not suggest that the Saguṇa Br. which is the highest according to V., is not independent ? We often come across such cases of confusing terminology in his system...The term 'guṇa' has also been understood and employed by V. in its narrowest sense, *viz.* that denoting a quality, so that attributes of any kind that can be predicated of one are and should be generally understood thereby. Thus, 'creation'—one would conclude—which is attributed to the Supreme ('Nirguṇa' ?) Br. does make the latter 'Saguṇa' in the right sense of the word. Again, the concept that the Highest Lord is the self of all, the all controller, the prime-creator, etc. and not Saguṇa, is opposed to V.'s own theory of

1. 'छायातपावित्यप्यविरुद्धम् । छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात्संसारित्वासंसारित्वयोः । अविद्या-कृतत्वात् संसारित्वस्य, पारमार्थिकत्वाच्चासंसारित्वस्य ।' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य १।२।११) ।

the Nirguṇa (Akṣara) being the lower Br. and Saguṇa Br. being the Para Br. The very idea of being the controller etc. speaks for 'Saguṇatva.' (The Phil. of V. pp. 170-171). कोई कहाँ तक लिखे ! पुनः पुनः कहनेमें भी लज्जा आती है कि जो व्यक्ति वाल्लभदर्शनकी इतनी प्रारम्भिक बातोंको भी नहीं जानता वह उस पर लेखनी चलाये ! 'गुण' शब्दके तीन अर्थ स्पष्टतया विवेचित हैं (१) अलौकिक दिव्य गुण (२) प्राकृतिक सत्य गुण और (३) मायिक मिथ्या गुण । इन्हीं तीन अर्थोंके कारण 'सगुण' के भी तीन अर्थ होते हैं । परब्रह्मको जब 'सगुण' कहा जाता है तो प्रथम अर्थमें और 'निर्गुण' कहा जाता है तो द्वितीय और तृतीय अर्थमें । यहाँ प्रस्तुत सन्दर्भमें—**'कर्ता स्वतन्त्र एव स्यात् सगुणत्वे विरुध्यते'** (शास्त्रार्थप्र० का० ७७) में 'सगुण' शब्द प्राकृत गुणोंको लेकर है । वाक्यका अर्थ है—जगत्कर्ता विना प्रकृतिके गुणोंका सहारा लिये सृष्टि प्रादुर्भूत करनेमें समर्थ है । और 'ब्रह्म सगुण है' का मतलब होता है—'ब्रह्ममें अलौकिक गुण हैं' । ऐसी स्थितिमें अलौकिकगुणवाला ब्रह्म प्राकृतिक गुणोंका सहारा लेकर जगत्कर्ता नहीं बनता, जैसे कि जीव प्राकृतिक गुणोंके कारण बनता है, अपितु स्वतन्त्रतया जगत्करणक्षम है क्योंकि प्रकृति भी स्वयं ब्रह्मकी ही एक प्राथमिक कृति है, इस अर्थमें परब्रह्म जो 'प्राकृत-धर्मानाश्रय अप्राकृतनिखिलधर्मरूप' (सर्वोत्तमस्तोत्र, श्लोक १) है, स्वतन्त्र कर्ता क्यों नहीं रहेगा ? इतनी छोटी-सी बात सम्प्रदायमें विना भाष्य पढ़े लोग भी जानते हैं (इस सर्वोत्तम स्तोत्रके कारण), पर भाष्य आदिके पन्ने पलटनेके बाद भी लेखिकाके पल्ले यह नहीं पड़ रहा है यह नितान्त दुःखकी बात है ! जगत्कर्ता होनेके कारण निर्गुण ब्रह्म सगुण हो जायेगा, यह लेखिकाका कहना है; मगर 'ब्रह्म निर्गुण है इस अर्थमें कि उसमें प्राकृतिक या मायिक गुण नहीं हैं । वह स्वतन्त्र माया, प्रकृति, परमाणु, अदृष्ट आदिका सहारा लिये विना स्वयं आत्मशक्तिसे जगत् उत्पन्न करता है क्योंकि उसमें अनेक दिव्य गुण हैं' यों कहने पर निर्गुण ब्रह्म सगुण है ही इसमें आपत्तिकी बात क्या है ? यह तो निबन्धकी २३ वीं और ४४ वीं कारिकाओंमें ही श्रीवल्लभाचार्य ने स्पष्ट कर दिया है फिर ७७ वीं कारिका में यहाँ शङ्का ही कैसे उठ सकती है, यह समझमें नहीं आता !

'अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः, नापि परमाणुजन्यः, नापि विवर्तात्मा (मायाजन्यः), **नाप्यदृष्टादिद्वारा जातः, नाप्यसतः सत्तारूपः, किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्नवस्तुकृति-साध्यः**' (शास्त्रार्थप्र० प्र० २३) और

'**निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः**' (शास्त्रार्थप्र० का० ४४)।

इन आक्षेपोंका परिहार भी इसीलिए हमें ७७ वीं कारिकाके बादकी (७८ वीं) कारिकासे ही देनेकी इच्छा होती है ।

'काचिदत्रातिविमलप्रज्ञा श्रौतार्थबाधनम् ।
कृत्वा जगत्कारणतां दूषयन्ती परे हरौ ॥'

'अतिक्रान्ता विमला प्रज्ञा यस्याः'[1] । और यही कारण है कि लेखिका आत्मापराध स्वीकार करती हैं, "we often come across such cases of confusing terminology in his system." (The Phil. of V. p. 170). जब विमलप्रज्ञा ही नहीं तो 'कन्फ़्यूज़न' (Confusion) स्वाभाविक ही है।

पृष्ठ १७२ पर श्रीवल्लभाचार्यके 'पुराणोंमें जगत्की मायिकता वैराग्यार्थ वर्णित है' इत्यादि कथनके सम्बन्धमें लेखिका कहती हैं कि, "V. shifts the emphasis from one point to another in order to explain away this knotty problem of 'Māyā' and especially its mention in the Purāṇas." (The Phil. of V. p. 172).

मगर प्रश्न यहाँ यह है कि लेखिकाके अनुसार तो पुराणोंके अनुसार वेदान्तदर्शन गढ़ना नहीं चाहिये अन्यथा 'रिवर्सल ऑफ क्रोनोलॉजिकल ऑर्डर' (reversal of chronological order) होता है। ऐसी स्थितिमें पुराणोंमें वर्णित मायाके सिद्धान्तको लेकर श्रौत या सौत्र दर्शनका अन्यथा रूप नहीं गढ़ना चाहिये क्योंकि, जैसा कि डंकेकी चोट पर श्रीवल्लभाचार्य भी कहते हैं,

'नास्ति श्रुतिषु तद्वार्ता दृश्यमानासु कुत्रचित् ।' (शास्त्रार्थप्र० का० ८२)

....**'एकादशशाखाः साम्प्रतं प्रचरन्ति, तासु न दृश्यते'** (शास्त्रार्थप्र० प्र० ८२) अर्थात् वेदकी ग्यारह शाखायें मिलती हैं, उनमें कहीं भी जगत्के मायिक होनेका सिद्धान्त वर्णित नहीं है, तो इस सर्वथा वेदानुपलब्ध सिद्धान्तको पुराणोंके आधारपर वेदपर नहीं थोपना चाहिये। नहीं तो वही, 'रिवर्सल ऑफ क्रोनोलॉजिकल ऑर्डर (reversal of chronological order) होगा, जो स्वयं लेखिकाके अनुसार भी दोष है किन्तु यहाँ शाङ्कर मतकी झूठी वकालतके मूडमें उसे याद नहीं आ रहा है ! और इस अन्धाग्रहकी बलिवेदी पर यौक्तिक सुसम्बद्धताका बलिदान करती हुई लेखिका आवरणभङ्गपर भी दोषारोपण करती हैं कि आवरणभङ्गकार भागवतादिके उद्धरण द्वारा वाल्लभदर्शनको व्यर्थ युक्तियुक्त बनाना चाहते हैं। यह हम भी स्वीकार करते हैं कि वस्तुतः श्रीपुरुषोत्तमजी यहाँ असफल रहे हैं क्योंकि इतनी युक्तियाँ देनेके बाद भी वे कम-से-कम लेखिकाकी बुद्धिपर पड़े दुराग्रहके आवरणको भङ्ग नहीं कर पाये !

पृष्ठ १७३ से १७८ तक लेखिकाने जगत्को मिथ्या सिद्ध करनेके लिए खूब हाथ-पैर मारे हैं, मगर दुःखके साथ कहना पड़ता है कि इससे शाङ्कर स्थितिमें कोई भी अन्तर नहीं आया है। हम एकके बाद एक युक्त्याभासोंकी परीक्षा करेंगे।

---

1. मूलपाठ, "केचिदत्रातिविमलप्रज्ञाः श्रौतार्थबाधनम् । कृत्वा जगत्कारणतां दूषयन्ति परे हरौ ॥ (शास्त्रार्थप्र० का० ७८) । अतिक्रान्ता विमला प्रज्ञा येभ्यः (शास्त्रार्थप्र० प्र० ७८)" है । उसे यह रूप हमने दिया है । (लेखक) ।

श्रुतिमात्रप्रामाण्यवादी श्रीवल्लभाचार्यके विरोधमें सामान्य ज्ञान, युक्ति और वैज्ञानिक चिन्तन की दुहाई देनेमें लेखिकाका मुंह नहीं थका और न उनकी लेखनीकी स्याही ही सूख पायी कि वे यहाँ केवल श्रुतिके दो शब्दों (१) '**इति**' और (२) '**एव**' की बलिवेदी पर समग्र जगत्का—उसके सामान्य ज्ञान, युक्ति और वैज्ञानिक चिन्तन-के साथ—बलिदान कर देनेके लिए खड्गधारिणी कालिकाका विकराल रूप लिये खड़ी हैं। और आरोप श्रीवल्लभाचार्यपर है कि उनका मत एक अच्छा धर्मशास्त्र हो सकता है पर दर्शन नहीं। श्रुतिके सिर्फ़ '**इत्येव**' की बलिवेदीपर सारे जगत्को मिथ्या मानकर उसका बलिदान भी मूलतः श्रीवल्लभाचार्यके मतकी महान् विजय है !

यदि केवल उपादानकारण सत्य होता हो और उसके नामरूपात्मक परिणाम यदि सत्य न होते हों—और यही श्रुतिका तात्पर्य भी मान लें तो भी शाङ्करमत कहाँ सिद्ध होता है ? ब्रह्म उपादानकारण नहीं—अधिष्ठान है। शाङ्कर मतमें जगत्का उपादान कारण माया है जिसका नामरूपात्मक परिणाम यह जगत् है। यदि श्रुतिकी यही व्याख्या मानें तो भी अद्वैतमें केवल माया ही सत्य सिद्ध होगी। अद्वैत सिद्ध होगा या नहीं यह लेखिका जानें। ब्रह्म तो परिणामि-उपादानकारण ही नहीं तो शाङ्कर मतकी वकालत यहाँ नहीं हो पायेगी।

लेखिका श्रौत '**इत्येव**' से सम्पूर्ण कार्यजगत्के सत्यत्वको हटाना चाहती हैं। मगर 'यदि भाषा विचारोंका शब्दोंमें अनुवाद करने का माध्यम हो तो और यदि शब्दोंमें अर्थप्रकाशनसामर्थ्य हो तो (इस पूरे प्रकरणको) निष्पक्षतापूर्वक देखने पर, विना किसी दर्शनमें स्वार्थन्यास किये यह सिद्ध होता है' कि कार्य मिथ्या नहीं हो सकता। इसके लिए उपनिषद्के पूर्वापरका भलीभाँति आलोचन आवश्यक है। छान्दोग्योपनिषद्के छठवें अध्यायके प्रथम खण्डमें यह बताया गया है कि बारह वर्षतक सभी वेदोंको पढ़कर[1] श्वेतकेतुको अभिमान हुआ और इस अभिमानको दूर करनेके लिए उसके पिताने उससे यह पूछा कि वह 'एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान' का रहस्य जानता है या नहीं। एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानके उदाहरणरूप उन्होंने मृत्पिण्ड और मृण्मय, लोहमणि और लोहमय आदिके दृष्टान्त दिये, मूलतः जगत् और ब्रह्म की चर्चा नहीं की। उत्तरमें श्वेतकेतु कहता है कि, 'मैं यह नहीं जानता' और तब उसके पिता जो समझाते हैं, वह इसके बाद आने वाले द्वितीय खण्डमें है। इस द्वितीय खण्डमें साक्षात् जगत् और ब्रह्म की निरुदाहरण चर्चा

1. "...since Śvetaketu to whom the words are addressed is a novice as it were, in the field of Br., and therefore the instances given should be easy to follow." (The Phil. of V. p. 175).

यह लिखते हुए लेखिका यह भूल गयी लगती हैं कि श्वेतकेतु चौबीस वर्षकी वयका है तथा बारह वर्षतक वेदोंका अध्ययन कर चुका है और वह इतना मूर्ख नहीं है कि शुक्तिरजतका उदाहरण भी न समझ सके।

है और वहाँ यह कहा जा रहा है कि यह परिदृश्यमान जगत् पहले भी सत् ही था (अर्थात् अभी भी सत् ही है। आशा है 'इत्येव' की तरह श्रौत **'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'** के फलितार्थपर लेखिका भार देंगी) एक और अद्वितीय। बादमें श्रुति कहती है कि कुछ लोग कहते हैं कि यह जगत् पहले असत् ही था, एकमेव और अद्वितीय (निश्चयेन यह परिदृश्यमान जगत्के सत् या असत् होनेमें विवाद है, अन्य किसी वस्तुके नहीं। और स्पष्टतया असद्वादको यहाँ मतान्तरके रूपमें प्रस्तुत किया जा रहा है स्वमतके रूपमें नहीं)। वे लोग कहते हैं कि पहले जो यह जगत् असत् था वही अब सत् हो गया। किन्तु श्वेतकेतुके पिता कहते हैं कि ऐसा कैसे हो सकता है (**कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यात्** ?) ? असत्से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है (कथमसतः सज्जायेत ?) ? स्पष्ट है कि उत्पन्न हुआ जगत् '**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**' कहनेवाले आरुणिके मतमें सत् है, वैसे ही जैसे ब्रह्म सत् है। आरुणि कहते हैं यह जगत् पहले सद्रूप ही था, एकमेव अद्वितीय, '**सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**' अर्थात् '**अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः, नापि परमाणुजन्यः, नापि विवर्तात्मा** (मायाजन्यः), **नापि अदृष्टादि-द्वारा जातः, नाप्यसतः सत्तारूपः, किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यः।**' (शास्त्रार्थप्र० प्र० २६)। उस सत्ने यह सोचा कि मैं अनेक रूप ले लूँ (**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति**)। यह मत श्रीवल्लभाचार्यका नहीं '**इति-एव**' कहनेवालेका है और इस विचारमें मायावादके सिद्धान्तकी गन्ध भी नहीं है, यदि भाषाको किसीके विचारकी अभिव्यक्तिका साधन मानते हों तो। अन्यथा भाषा यदि आविद्यिक दुराग्रहकी अभिव्यक्तिका साधन हो तो हमें कोई विवाद नहीं करना है !

इस सम्पूर्ण पूर्वापरालोचनमें अविकृतपरिणामवादी दृष्टान्त—मृत्पिण्ड और मृण्मय (घटादि) का—देना और विवर्तवादी शुक्तिरजतका दृष्टान्त न देना, उपक्रम और उपसंहार दोनोंके बलसे जगत्के सत्यत्वका ही साधक है। 'इत्येव' की व्याख्यामें भी लेखिका कहती हैं मगर जानती नहीं कि 'इति' का क्या स्वारस्य है ! 'मृत्तिकैव सत्या' क्यों नहीं कहा, 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' क्यों कहा ? श्रीवल्लभाचार्यके मतमें 'इति' और 'एव' दोनों का स्वारस्य सुरक्षित रहता है और उपक्रमोपसंहारकी अनुकूलता भी रहती है, जब कि मिथ्यावादमें कारणके ज्ञानसे कार्यका ज्ञान निवृत्त होता है—पैदा नहीं होता। जैसे शुक्तिके ज्ञानसे रजतज्ञान मिटता है—शुक्तिपर होनेवाले सभी भ्रम एक साथ दिखलायी देने नहीं लग जाते या समझमें नहीं आ जाते। (१) एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान (२) अविकृतपरिणामवादी उदाहरण (३) जगत्के असत् होनेके मतके बारेमें मतान्तरताका उल्लेख (४) परिदृश्यमान जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व तथा उत्पत्तिके बाद सत् होनेकी उक्ति और (५) ब्रह्ममेंसे केवल इच्छामात्रसे सृष्टिके प्रादुर्भावका उल्लेख, ये सब रहनेपर भी यह कहना कि, "the employment of 'iti' and 'eva' together is very suggestive in that the seers, who had no vested interests

in any particular system as such, wanted to reduce the whole issue to the form of a universal proposition, viz. that the cause alone is real." (The Phil. of V.p. 176.) कितने बड़े ढोंगका उदाहरण है। जब स्वयं श्रीशङ्कराचार्य ब्रह्मको कारण ही नहीं मानते तो 'cause alone is real' कहनेसे क्या लाभ ? कारण तो उनके मतमें मायिक वस्तु ही हो सकती है जो सत्य नहीं होती। यदि उस श्रुतिमें कारणमात्रका सत्य होनेका सिद्धान्त भी मान लें तो शाङ्कर मत कहाँ सिद्ध होता है ? 'उभयमपि सत्यम्' क्यों नहीं कहा यह लेखिकाका प्रश्न द्वैतवादियोंसे पूछा जा सकता है तादात्म्यवादियों—शुद्धाद्वैतियों से नहीं, क्योंकि ब्रह्म ही जगत्का रूप लेता है और जगत् ब्रह्मरूप ही है तो 'उभयमपि सत्यम्' का प्रश्न ही नहीं उठता। मृत्तिका ही घटरूपमें सामने आती है और घट मृदात्मक ही है तो 'उभयमपि सत्यम्' का प्रश्न ही, नहीं उठता। ठीक वैसे ही जैसे एकतरके मिथ्या होनेका प्रश्न नहीं उठता। पृष्ठ १७७ पर लेखिका कहती हैं कि श्रीवल्लभाचार्य 'इति' पर इतना भार देते हैं और 'एव' की उपेक्षा करते हैं, इसके उत्तरमें यह भी तो पूछा जा सकता है कि वे 'एव' पर इतना भार देती हैं तो 'इति' पर क्यों नहीं ? उनका कहना है कि **'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्'** (गीता १६।८) वाक्य दैवी और आसुरी सृष्टिके भेदके प्रकरणमें आया है अतः इस वाक्यका विषय शाङ्कर मत नहीं हो सकता ऐसा सभी विद्वानोंका एकमत है (लेखिकाका तात्पर्य निश्चयेन अद्वैती विद्वानोंसे होगा !)। हम भी यह मानते हैं कि यहाँ शाङ्करमतमें तात्पर्य नहीं है किन्तु आसुरी सृष्टि के लक्षण यहाँ गिनाये गये हैं। किन्तु प्रश्न यहाँ यह है कि ये लक्षण अद्वैतीपर लागू होते हैं कि नहीं ? यदि कहा जाये कि पूरी तौरपर लागू नहीं होते क्योंकि शाङ्करमतमें जगत्को असत्य माननेके बावजूद भोगवादके लिए स्थान नहीं है, तो इस प्रकार तो यह लक्षण चार्वाकपर भी लागू नहीं होगा क्योंकि भोगवादी होते हुए भी वह जगत्को मिथ्या या असत् नहीं मानता ! तो फिर लागू किस पर होगा ? यदि भाषाको श्रीकृष्ण-के विचारोंकी अभिव्यक्तिका माध्यम मानें तो उसीपर लागू होता है जो जगत्को मिथ्या मानता है, मानवीय मूल्योंकी अपरिमेय चिन्ताओंके कारण जीवगत कर्तृत्वको ईश्वराधीन नहीं मानता (यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञानविमोहिताः। गीता १६।१५)। वैसे न्यायका तो यही सिद्धान्त है कि या तो यह स्वीकार करना चाहिये कि लक्षण अतिव्याप्त है—जो प्रकृत प्रसङ्गमें सम्भव नहीं है—या यह मान लेना चाहिये कि जहाँ लक्षण लागू होता है वह लक्ष्य ही है। जगन्मिथ्यात्ववादीपर उक्त लक्षण लागू होता है अतः वह अर्थात् जगन्मिथ्यात्ववादी आसुरी सृष्टिके लक्षणका लक्ष्य ही है क्योंकि गीताके लक्षण-को अतिव्याप्तिदोषसे दूषित तो माना नहीं जा सकता। यह तो सीधी-सी तर्ककी बात है—श्रद्धाकी नहीं।

पृष्ठ १७९ पर लेखिकाने अपने दोषैकदृष्टि होनेकी पराकाष्ठा दिखलायी है। सूत्रा-

त्मक शैलीमें स्वयं श्रीवल्लभाचार्यने निबन्धकी कारिकायें लिखी हैं और स्वयं ही इन कारिकाओंपर प्रकाश भी लिखा है। अतः १०१-१०२वीं कारिकाओंका अर्थ श्रीवल्लभाचार्य स्वयं खींच-तानकर निकालते हैं यह आरोप तो नितान्त हास्यास्पद है। लेखिकाको कारिकार्थ समझमें ठीकसे नहीं आया अतः कारिकायें ठीकसे नहीं गढ़ी गयी हैं यह आरोप तो समझमें आता है। मगर स्वयं की कारिकाओंका अर्थ स्वयं ही कोई खींच-तानकर निकाल सकता है यह सोचनेपर भी तो ऐसा लगता है कि सम्भवतः लेखिका अपनी इस मान्यताको छोड़ रही हैं कि भाषा विचारको अभिव्यक्त करनेका शाब्दिक माध्यम है। अन्ततः जहाँ वक्ताका तात्पर्य होता है वही शब्दका अर्थ होता है यह तो अद्वैतकी वेदान्तपरिभाषा[1] पढ़ी होती तो भी समझमें आ जाता। अतः स्वयं वक्ता ही जब अपना तात्पर्य आविष्कृत कर रहा हो तो उस पर यह आरोप लगाना कि यह अर्थ तुम खींच-तानकर निकाल रहे हो वस्तुतः कल्पनातीत है। लेखिकाने यहाँ श्रीवल्लभाचार्यपर एक ऐसा आरोप लगाया है जिसका उदाहरण किसी बौद्धिक चर्चामें मिलना दुर्लभ होगा! वैसे यह तो निश्चित है कि श्रीवल्लभाचार्यकी भाषा-शैली प्रसन्न नहीं किन्तु अत्यन्त संक्षेपात्मक और भावगम्भीर रहती है। और इसे यदि दोष मानना हो तो उत्तर हमारे पास भी केवल **'रुचीनां वैचित्र्यात्'** ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं। हाँ, जहाँतक समझमें न आनेका सवाल है तो बात सीधी-सी है कि श्रीवल्लभाचार्यके मतमें श्रवणादिपूर्वक भगवद्भजनके छः प्रकार हैं जिनमें से पाँच—जो प्रमाणमर्यादासे आते हैं—यहाँ दिखलाये गये हैं। प्रमेयमर्यादासे प्रादुर्भूत होने वाले एक अत्युत्तम प्रकारकी गणना यहाँ की ही नहीं गयी है। ये प्रकार यों हैं—

उत्तम— { (१) शुद्धा स्वतन्त्रा भक्तिके साथ श्रवणादिपूर्वक भजन।
(२) द्विविधज्ञानसहित उत्कटस्नेहके साथ भजन। }

मध्यम— { (३) माहात्म्यज्ञानसहित उत्कटस्नेहके साथ श्रवणादिपूर्वक भजन।
(४) स्नेहरहित शास्त्रीयमाहात्म्यज्ञानके साथ श्रवणादिपूर्वक भजन। }

आदिम— { (५) अनुत्कटस्नेहके साथ श्रवणादिपूर्वक भजन।
(६) केवल श्रवणादिपूर्वक भजन। }

प्रथम प्रकार यहाँ गिनाया नहीं गया है क्योंकि स्वयं श्रीवल्लभाचार्य आगे चलकर सर्वनिर्णयप्रकरणमें कहेंगे,

'भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते' (सर्वनि० प्र० का० १९६)। यह स्वतन्त्र अविहित फलरूपा भक्ति यहाँ नहीं दिखलायी जा रही है किन्तु,

---

१. द्रष्टव्य, 'वाक्यजन्यज्ञाने च आकांक्षायोग्यतासत्तयस्तात्पर्यज्ञानञ्चेति चत्वारि कारणानि।' (वेदान्तपरिभाषा, पृष्ठ १६९)।

'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः' (शास्त्रार्थप्र०का० १४) में कही जा रही प्रमाणबलकी मर्यादासे सर्वोत्तम स्थितिको ही यहाँ भी,

'एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः' (शास्त्रार्थप्र०का० १०१) द्वारा कहा जा रहा है। इसका उत्तम होना भी प्रमाणमर्यादामें है। प्रमेयबलसे ही प्राप्त होनेवाली शुद्धा स्वतन्त्रा भक्ति—जैसी व्रजभक्तोंको प्राप्त हुई थी—तो दुर्लभ है, अतः यहाँ उसका निरूपण भी नहीं किया गया है। इसके बाद श्रवणादिपूर्वक भजनके दो मध्यम प्रकार हैं जहाँ शास्त्रीय ज्ञान अथवा उत्कट स्नेह मेंसे किसी एकके साथ श्रवणादिपूर्वक भजन होता है जिसके (१) **'प्रेमाभावे मध्यमः स्यात्'** (शास्त्रार्थप्र०का० १०२) और (२) **'ज्ञानाभावे तथा'** (शास्त्रार्थप्र० का० १०२), **'ज्ञानाभावे तथा मध्यम इत्यर्थः'** (शास्त्रार्थ प्र० प्र० १०२) यों दो पक्ष हैं। अर्थात् उत्कट स्नेह हो और शास्त्रीय ज्ञान न हो तो ऐसा श्रवणादिपूर्वक भजन मध्यम है। इसी तरह शास्त्रीय ज्ञान हो परन्तु उत्कट स्नेह न हो तो भी श्रवणादिपूर्वक भजन मध्यम ही कहलायेगा। परन्तु शास्त्रीय माहात्म्य-ज्ञान भी न हो और उत्कट स्नेह भी न हो तो उस अवस्थामें श्रवणादिपूर्वक भजन आदिम ही कहलायेगा, जैसे सर्वथा अनुत्कट स्नेह भी न हो और शास्त्रीय ज्ञान भी न हो और केवल श्रवणादिपूर्वक भजन किया जाता हो तो वह आदिम कहलाता है।

यह अर्थ निबन्धके पूर्वापर अंश तथा आवरणभङ्ग और योजना देखनेसे स्पष्ट हो जाता है। परन्तु लेखिकाको तो इतना भी ज्ञान नहीं है कि यहाँ तीनों मार्गोंकी चर्चा नहीं किन्तु केवल भक्तिमार्गकी चर्चा है। ज्ञानका समावेश तो जैसा कि भक्तिकी परिभाषा,

"माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिः......................॥" (शास्त्रार्थप्रकरणका० ४२)

से स्पष्ट है, भक्तिके अङ्गभूत रूपमें है ज्ञानमार्गीय कहलाने वाले स्वतन्त्र ज्ञानका नहीं। अतएव लेखिका जब कहती हैं कि,

"Somehow, the meaning it expresses does not fit in with the concept of the graded order of karma, jñāna and bhakti, as maintained by the Śuddhādvaita school of thought which speaks of 'love' as superior to 'jñāna.' " (The Phil. of V. p. 179).

तो इससे उनका अज्ञान ही प्रदर्शित होता है क्योंकि इन कारिकाओंकी उत्थानिकामें ही श्रीवल्लभाचार्य यह स्पष्ट कर चुके हैं कि, "एवं परमतं निराकृत्य स्वमते यथा भजनं तथा सङ्कलीकृत्याह—**'एवं सर्वम्'** इति" (शास्त्रार्थप्र० प्र० १०१)। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ तीन मार्गोंमेंसे ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के तुलनात्मक प्राधान्यकी चर्चा ही नहीं है अपितु श्रीवल्लभाचार्य यहाँ भक्तिमार्गमें किये जाने वाले भजनके विभिन्न प्रकारोंका तुलनात्मक अन्तर समझाना चाहते हैं। उसे समझे विना छिछली मनोवृत्तिसे

आक्षेप करना एक जघन्य अपराध है जो अन्धद्वेषके विना कोई भी व्यक्ति करना नहीं चाहेगा।

स्वयं लेखिकाके ज्ञानका स्तर क्या है यह तो पृष्ठ १८० पर की गयी, **'तत्साधनञ्च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यत्।'** (सर्वनि० प्र० का० ३) इस वाक्यकी उनकी, 'The offerings like Prayājas, garlands, etc. represent the 'prakṛti' of the Lord.' (The Phil. of V. p. 180) इस व्याख्यासे ही स्पष्ट हो जाता है। 'स्रुक्' यज्ञपात्रका नाम है और garland (माला) के लिए संस्कृतभाषामें 'स्रक्' शब्द है। बात यहीं खत्म नहीं होती है। "गणितानां नाम्ना प्रसिद्धानां प्रकृतिरूपत्वमित्याह—**'प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यं तु वैकृतम्।'**" (सर्वनि०प्र०का० ३) इत्यादिवाक्यमें आये 'प्राकृतं रूपम्' पदोंका अनुवाद लेखिकाने 'represent the prakṛti of the Lord' (The Phil. of V. p. 180) किया है। लेखिकाको यह ज्ञान ही नहीं है कि कर्म दो तरहके होते हैं (१) प्रकृति और (२) विकृति। यहाँ भगवान्‌की प्रकृतिका क्या प्रश्न है ?

पृष्ठ १८५ पर सर्वनिर्णयप्रकरणमें किये गये अक्षरसम्बन्धी विचारपर लेखिका कहती हैं कि, "It is worthwhile to pause here and analyse V.' s statement. The suppression of the Bliss-aspect in Akṣara cannot be explained away as "suppressed *as it were*",—since the Bliss may be either suppressed or manifest, but saying that it is 'tirohita iva' would at the most suggest that it is inexplicable,—and such a 'suppression' runs very close to the 'Māyā' of Ś. and therefore in so far as the reader is concerned it comes close to represent the case of a distinction without a difference." (The Phil. of V. p.185).

अर्थात् अक्षरब्रह्ममें आनन्दांश या तो तिरोहित मानना चाहिये या आविर्भूत ही, किन्तु **'तिरोहित इव'** मानने का कोई अर्थ ही नहीं है। और यदि मानते हैं तो वह श्रीशङ्कराचार्यकी माया जैसा ही अर्थात् अनिर्वचनीय होगा। यहाँ दर-असल स्थिति यह है कि 'तिरोहित इव' का निर्वचन गणितानन्दता है। अतः यहाँ अनिर्वचनीयता नहीं है और न मायासादृश्य ही। तिरोभाव या आविर्भाव का उभयतोपाश भी अस्थानप्रयुक्त है क्योंकि अगणितानन्दके आविर्भाव और तिरोभाव के बीच गणितानन्दके आविर्भाव और ईषत् आनन्दके तिरोभाव का मध्यमार्ग सम्भव है। इसे तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मवल्लीके आठवें-नवें अनुवाकोंसे समझना चाहिये। वैसे श्रीवल्लभाचार्यने श्रीकृष्णाश्रयमें ही, **"प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत्। पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्**…………॥" (श्रीकृष्णाश्रयः, ८) कह कर इसे स्पष्ट कर दिया है।

आरोप लगानेका उत्साह लेखिकामें इतना है कि बौद्धिक विवेकका कोई अवसर

नहीं आ पाता । पृष्ठ १८८ पर लेखिका कहती हैं, " 'नित्या न विवादास्पदमिति ।' we come across a very unusual and abnormal m ning that the author wants us to understand by the word 'nitya' that is used here, meaning a settled or established truth or thing." (The Phil. of V. p. 188).

सर्वप्रथम तो **'नित्या न विवादास्पदमित्यर्थः'** (सर्वनि०प्र०प्र० १३८)इत्यादिवाक्यमें श्रीवल्लभाचार्य किसी दूसरे द्वारा प्रयुक्त **'नित्या'** शब्दका अर्थ **'न विवादास्पदम्'** नहीं कर रहे हैं प्रत्युत अपने ही द्वारा प्रयुक्त शब्दकी व्याख्या कर रहे हैं । ऐसे स्थलपर इस प्रकारकी आपत्ति केवल द्वेष और अज्ञानमूलक ही हो सकती है, विचारमूलक नहीं । श्रीशङ्कराचार्य भी तो 'मिथ्या' शब्द—जो कोषमें 'असत्' के अर्थमें प्रयुक्त है—का अर्थ 'असद्विलक्षण' करते हैं । खैर, किन्तु श्रीवल्लभाचार्य यहाँ यह नहीं कह रहे हैं कि 'नित्य' शब्दका अर्थ 'अविवादास्पद' है । वे तो यही कहना चाहते हैं कि प्राणिमात्रको सुख-दुःखकी अनुभूति सर्वदा—नित्य—होती ही रहती है और इसमें (अर्थात् सुख-दुःखके उत्पत्तिस्वभाव होनेके विषयमें) कोई विवाद ही नहीं है । परन्तु लेखिका यदि बुद्धिको समझनेका अवकाश देतीं तो थीसिस कैसे लिखी जा सकती !

इसी पृष्ठ १८८ पर लेखिकाने एक नितान्त हास्यास्पद अज्ञानका प्रदर्शन किया है जब वे कहती हैं कि, 'आविर्भाव और इस आविर्भावधर्मके आश्रय घट दोनोंके नित्य होने पर घट नित्य आविर्भूत रहेगा,' इस आपत्तिका परिहार 'Divine Wish' या ईश्वरीय सामर्थ्यके आधारपर देकर श्रीवल्लभाचार्य पुनः एक बार सिद्ध कर रहे हैं कि जब उनके पास कोई उत्तर नहीं होता तो वे भगवदिच्छा या भगवत्सामर्थ्य का ही आश्रय लेते हैं, उनके पास एक यही रामबाण है । मुझे तो लगता है कि स्वयं लेखिकाके पास श्रीवल्लभाचार्यके विरोधमें आरोप गढ़नेमें यही दो रामबाण हैं कि श्रीवल्लभाचार्य शब्दको प्रमाण मानते हैं और ईश्वरको सर्वसमर्थ ! तर्कके पुजारीको तर्कशास्त्रके इतने सामान्य नियमका ज्ञान नहीं कि सहकारिकारण किसे कहते हैं ! यहाँ इच्छाको सहकारिकारण मानकर आपत्तिका तार्किक समाधान किया गया है न कि कोई समाधान न मिलनेसे भगवदिच्छाका रामबाण प्रयुक्त किया गया है । वैसे यदि रामबाणके रूपमें यह उक्ति होती तो भी वेदान्तमें—जो ईश्वरको सर्वकारणकारण, चेतन तथा अद्वैत मानता है—यही उत्तर सुसङ्गत होता । मगर उस रूपमें यहाँ भगवदिच्छाको लिया ही नहीं जा रहा है । पर समझनेकी फ़ुर्सत किसे है ? वस्तुतः यहाँ 'Divine Wish' शब्दोंको कैपिटल अक्षरोंसे प्रारम्भ करके लिखना ही लेखिकाके अज्ञान (Ignorance) का सूचक है ।

लेखिकाके अज्ञान (ignorance) का एक और मजेदार प्रदर्शन देखिये । पृष्ठ

१८९ पर वे कहती हैं, "It also hints at the Satkhyāti doctrine viz. that the effect is existent in its cause even before its manifestation as an effect." (The Phil. of V. p. 189). सत्ख्यातिके सिद्धान्तका मतलब है कि 'भ्रमका विषय सत् ही होता है असत् नहीं।' और जिस सिद्धान्तकी चर्चा लेखिका यहाँ करना चाहती हैं उसका सर्वमान्य नाम 'सत्कार्यवाद' है। यहाँ सत्कार्यको सत्ख्याति बनाना निश्चय ही मुद्रणदोष नहीं है। यह वस्तुतः खेदकी बात है कि इतने अनभ्यासी व्यक्तियोंको हमारे शिक्षासंस्थानोंमें न केवल उत्तीर्ण किया जाता है प्रत्युत **"अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः"** उक्तिके अनुसार उनकी लिखित पुस्तकको एम्० ए० के पाठ्यक्रममें भी रखा जाता है।

पृष्ठ १९१ पर लेखिका "तिरोभावके तिरोभाव" पर विस्मयान्वित हो रही हैं। मगर यदि तिरोभाव न भी माना जाये और उत्पत्ति-नाश ही स्वीकार कर लिया जाये तो भी इस प्रश्नका समाधान सम्भव नहीं है क्योंकि उत्पत्तिकी क्रियाकी उत्पत्ति और नाश तथा नाशकी क्रियाकी उत्पत्ति और नाश माने विना उत्पत्ति-नाशकी भी व्याख्या सम्भव नहीं। यदि विवर्तवाद मानकर भी चलें कि वस्तुतः न तो उत्पत्ति या आविर्भाव ही है और न नाश या तिरोभाव ही—केवल भ्रान्तिवश उत्पत्ति आदिकी प्रतीति होती है, तो भी यह प्रश्न तो रहेगा ही कि भ्रान्ति स्वयं भ्रान्ति है या प्रमा? और यों विवर्तवादमें भी भ्रान्तिकी भ्रान्ति तो आ ही जायेगी।

पृष्ठ १९३ पर लेखिकाने स्वयं ही प्रश्न उठाया है तथा स्वयं ही उसका मिथ्या समाधान किया है। लेखिकाका प्रश्न यह है कि हरिका स्वभाव ही यदि मोक्ष देना है तो वे सभीको मोक्ष क्यों नहीं दे देते? और मिथ्या समाधान लेखिकाने यह सोचा है कि भगवान् अपने स्वभाववश सबको मोक्ष देते हैं मगर अपने-अपने पथपर जीवके प्रयत्न अपेक्षित हैं। दर-असल यह प्रश्न यहाँ इसलिए नहीं उठ सकता कि भगवान् जब मोक्ष देते हैं तो किसी प्रयत्नकी शर्तपर नहीं किन्तु स्वेच्छया या स्वकृपया—जो स्वभावका ही एक नामान्तर है। और वे सबको मोक्ष नहीं देते यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वयं श्रीवल्लभाचार्य **"कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्य लयः सर्वसुखावहः"** (शास्त्रार्थप्र० का० २४) कहते ही हैं। कालभेद, मार्गभेद तथा प्रकारभेद तो मुक्तिमें अभीष्ट ही है। क्योंकि मुक्तिदान जैसे एक लीला है वैसे ही अनेक रूपोंमें मार्गभेदपूर्वक सृष्टि भी भगवल्लीला है ही। दोनोंमें आप्तकाम भगवान्का कोई प्रयोजन नहीं है, यही स्वभावका अर्थ है। यह स्वभाव गणितशास्त्रीय अनुल्लङ्घनीय स्वभाव नहीं है।

पृष्ठ १९८ पर निबन्धके सर्वनिर्णयप्रकरणके "ब्रह्मके रूपमें जीवात्माका ज्ञान प्रथमतः ब्रह्मज्ञानकी अपेक्षा रखता है अन्यथा जिसे रजतका ज्ञान ही नहीं है उसे भी शुक्तिमें रजतका भ्रम होने लगेगा, अतः पहले ब्रह्मज्ञान अपेक्षित है और इसीसे कार्य-

सिद्धि हो जानेपर आत्मज्ञानकी अपेक्षा ही नहीं है'' इस विधानपर लेखिकाका कहना है कि श्रीवल्लभाचार्यकी आपत्ति ब्रह्मज्ञानियोंके अनुभवके विपरीत होनेके कारण ग़लत है[1]। सैद्धान्तिकरूपमें यह आपत्ति ठीक हो भी सकती है परन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि अद्वैत वेदान्तियोंके मतमें ब्रह्मज्ञान आत्माके ब्रह्मत्वेन ज्ञानका ही दूसरा नाम है अतः एकके होनेपर दूसरा भी हो ही जाता है। शुक्तिरजतभ्रान्तिके उदाहरणके बारेमें भी लेखिकाका कहना है कि वहाँ रजतज्ञानकी प्राथमिकता ठीक है पर ब्रह्मज्ञानकी प्राथमिकता एतावता सिद्ध नहीं होती।

श्रीवल्लभाचार्यकी, 'जीवात्माको ब्रह्मत्वेन जानना हो तो प्रथम ब्रह्मानुभव अपेक्षित है'—इस युक्तिका ''ब्रह्मज्ञानका ही दूसरा रूप जीवात्माका ब्रह्मत्वेन ज्ञान है'' इस युक्तिसे जवाब नहीं बनता क्योंकि ''जीवात्माके ब्रह्मत्वेन ज्ञात होनेसे पहले ब्रह्मज्ञान आवश्यक है'' इस अंशका समाधान नहीं हो पाता है। उदाहरणतया हम 'क' के ज्ञानको 'ख' के 'ख = क' ज्ञानके समान भी मानलें तो भी अन्ततः 'क' का ज्ञान तो आवश्यक है ही अन्यथा 'ख' का ज्ञान स्वयंमें पर्याप्त होगा और 'ख = क' ज्ञानकी भी आवश्यकता नहीं है। युक्तिसे तो यही प्रतीत होता है। और इस बातका स्वानुभवके आधारपर खण्डन करने वाला कोई mystic भी हमें आज तक नहीं मिला है अतः लेखिका जब तक ऐसे / ऐसी किसी mystic का पता हमें नहीं देतीं तब तक लेखिकाके कहने मात्रसे हम यह माननेको तैयार नहीं हैं कि mystics का अनुभव ऐसा है, क्योंकि mystics का लेखिकाकी तरह किसी सिद्धान्तविशेषमें vested interest (निहितस्वार्थ) होना हमको सम्भव नहीं लगता। अर्थात् यदि ब्रह्मज्ञानकी प्राथमिकतापर भार न दिया जाये तो ब्रह्मज्ञानकी आवश्यकता ही क्या है? 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि' की आवश्यकता ही क्या है? तब तो 'अहमेवास्मि' और 'त्वमेवासि' ही पर्याप्त होगा। अतः ब्रह्मज्ञानकी प्राथमिकता शुक्तिरजतके उदाहरणके युक्तिबलपर स्वीकार करनी ही पड़ेगी। यह वह स्थल है जहाँ स्वयं लेखिका मानवीय तर्कोंको mystics की बलिवेदी पर बलिदान करना चाहती हैं।

पृष्ठ २०४ पर लेखिका कहती हैं कि भागवतार्थप्रकरण (३।१८८) में श्रीवल्लभाचार्यने मानवीय प्रयत्नोंको थोड़ा-बहुत अवकाश दिया है। मगर यह पूरा प्रकरण स्वयं लेखिकाने गम्भीरतापूर्वक नहीं पढ़ा है, केवल इधर-उधर कुछ पन्नोंको पलटते हुए कुछ

---

1. Not so, on the strength of the experiences of the mystics. It may be true theoretically, but it should not be forgotten that the 'knowledge of Br.' is—for a monistic vedāntist—identical with the 'knowledge of the Self as Br.' (in one way or the other) and therefore the accomplishment of one is not exclusive of the other. (The Phil. of V. p. 198).

समझे कुछ विना समझे जहाँ जिस वाक्यपर निगाह पड़ गयी है उसे लिख दिया है। अतः ऐसे विचारोंका कोई मूल्य ही नहीं है।

पृष्ठ २१० पर लेखिका कहती हैं, "After having referred to the creation by Br. through His union with Māyā, V. hastens to remark that the Vedas state that Br. created the world without any connection with Māyā, while Purāṇas affirm Him to be the creator in connection with Māyā. It is because of this Māyā that the Lord appears as the possessor of attributes amongst those objects which are seen as qualified, and, residing within them." (The Phil. of V. p. 210). यहाँ 'hastens to remark' प्रयोग तो लेखिकाके वाल्लभमतके अज्ञानका द्योतक है ही, सुबोधिनीके **'अस्याः पुनः स्पर्शे न भगवति गुणाकृतित्वम्'** इस वाक्यका अनुवाद "It is because of this Māyā that the Lord appears as the possessor of attributes." अर्थात् 'मायाके कारण भगवान् गुणोंके धारक बनते हैं' करना उनके संस्कृतभाषा और वाल्लभशास्त्र दोनोंके ज्ञानका निदर्शक है! सुबोधिनीके मूलवाक्य, "**स्वस्यानन्तगुणस्य स्पर्शेन तादृशाकृतिरूपा गुणमयी भवति।**....... **अस्याः पुनः स्पर्शे न भगवति गुणाकृतित्वम्, अतः अगुणः प्राकृतगुणरहितः। कथं स्वसम्बन्धेनैव मायाया गुणवत्त्वम्, कथं वा मायायां प्रविष्टोऽपि जगद्रूपेण जातोऽप्यगुणः? तत्राह विभुरिति सर्वसमर्थ इत्यर्थः।**" (सुबो० १।२।३०) इत्यादिमें स्पष्टतः भगवान्के कारण मायामें गुणोंका आना दिखलाया जा रहा है, मायाके कारण भगवान्में गुणोंका आना नहीं। इतना ही नहीं यहाँ माया (प्रकृति) के गुणोंसे रहित होनेके कारण भगवान्को निर्गुण कहा जा रहा है। अतः स्पष्ट है कि लेखिकाका अनुवाद या तो दुर्भावनावश किया गया है या अज्ञानवश।

इसी पृष्ठ २१० पर पादटिप्पणीमें लेखिकाने कहा है कि,

"**स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया। सदसद्रूपया चासौ**........॥ (भाग० १।२।३०) Here Māyā is spoken of as 'sadasadrūpā', while it was described earlier in I. 1. 18 as the power to become all. Again, 'sadasadrūpā' might seem to come near Ś.'s definition of Māyā as: 'तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीया'। But their connotations are not the same." (The Phil. of V. p. 210) वस्तुतः दुःखके साथ कहना पड़ता है कि यह सुबोधरत्नाकरमेंसे विना पूर्वापर वाक्योंका अवलोकन किये सुबोधिनीपर निर्णय दे देनेकी उतावलीका परिणाम है। यदि लेखिकाने सुबोधिनीमें अन्तर्विरोध होनेका निर्णय देनेके पहले सुबोधिनीके मूलवाक्योंको पढ़नेका कष्ट किया होता तो उन्हें इसी श्लोककी सुबोधिनीमें यह लिखा मिल जाता कि "**अतोऽनन्तगुणपूर्ण एव भगवान् स्वस्य मायया शक्त्या सर्वभवनसामर्थ्यरूपया इदमात्मभूतं जगत्सृष्टवान्। मायायाः स्वरूपमाह—'सदसद्रूपया' इति।**" (सुबो०

१।२।३०) अर्थात् सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया ही प्रकृतिरूपा त्रिगुणात्मिका मायाका रूप लेती है जिसके गुणोंसे भगवान् अपने मूलरूपमें असम्पृक्त रहते हैं। जहाँ तक सदसद्रूपा मायाके 'तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीया' मायाके सदृश होनेका प्रश्न है तो हमें सिर्फ़ यही कहना है कि 'तत्त्वान्यत्व' का अर्थ होता है 'सत्त्व' और 'असत्त्व', तथा 'अनिर्वचनीया' का मतलब होता है 'विलक्षण', अर्थात् श्रीशङ्कराचार्यको सदसद्विलक्षण माया अभिप्रेत है और उस सदसद्विलक्षण मायाको सदसद्रूप मायाके समीप मानना वस्तुतः किस मानवीय तर्कके आधार पर है यह समझमें नहीं आता ! सदसद्का अर्थ तो स्वयं ग्रन्थकारने समझाया ही है, अतः ब्रह्म मायासम्बद्ध भी हो तो भी शाङ्कर मायाका तो यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः इसी पृष्ठ २१० की दूसरी पादटिप्पणीमें लेखिकाके इस कथनपर कि, "Does it not mean that He becomes मायासम्बद्ध—even when Māyā, for V., is His power ?" मुझे कुछ और नहीं कहना है सिवाय इसके कि "even when Māyā, for V., is His power ?"

पृष्ठ २१६ पर लेखिका श्रीवल्लभाचार्यपर आरोप लगाती हैं कि "It is, as is well known, a problem with many and deep philosophical implications. V. tends strongly to over-simplify it by overstressing his stand on the unconditioned Absoluteness of Lord's Will." (The Phil. of V.p. 216.). हमें सन्तोष यही है कि इन अनेक गहन दार्शनिक अर्थापत्तियोंका कम-से-कम लेखिकाको लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है अतः श्रीवल्लभाचार्य अनपेक्षित सरलीकरण भी कर रहे हों तो कोई भय की बात—कम-से-कम इन आरोपोंके सन्दर्भमें —नहीं है।

पृष्ठ २२१ पर लेखिका कहती हैं, "This is typical of the occasions when V. somehow brings in the element of human endeavour and co-operation to the Lord's grace—out of a free choice or consent : it so seems here. Other statements seem to exclude that, and so does the system's logic." (The Phil. of V.p. 221.).

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि भगवान् ही सब कुछ करते हैं यह ठीक है तो भी सिद्धि भजनके विना नहीं होती, अतः भजन करना चाहिये। यहाँ वस्तुतः न तो मानवके प्रयत्नका कोई महत्त्व प्रतिपादित है और न स्वतन्त्र कर्तृत्वका। जहाँ भी कर्तव्यका उपदेश होता है वह जीवदृष्टिसे और यथार्थस्वरूप निरूपण होता है तो ब्रह्मदृष्टिसे। यही विवेक रखते हुए सर्वत्र ग्रन्थाशयको पकड़नेकी कोशिश करेंगे तो सारे वाक्य समन्वितार्थक होंगे—अन्यथा नहीं। यह श्रीवल्लभवाणीका थोड़ा-बहुत भी अभ्यास करनेवालेको अस्पष्ट नहीं होगा। लेखिका जो अन्तर्विरोधका आतङ्क फैलाना चाहती हैं वह अनभ्यासमूलक है।

इसी तरह पृष्ठ २२२ पर जीवोंकी स्त्रीप्रकृति और पुं-प्रकृति के प्रभेदको लेखिका अन्तर्विरोधपूर्ण मानती हैं मगर वह भी अपूर्ण अध्ययनका ही द्योतक है। यह भेद सुस्पष्टतया मान्य है जहाँ विरोधकी कोई सम्भावना ही नहीं है।

पृष्ठ ३१६ पर लेखिका कहती हैं, "one has to acknowledge the merits of a system as such in accordance with the degree of the test of consistency that it can stand." (The Phil. of V. p. 316). किन्तु सुबोधिनीके **'भगवच्छास्त्रे भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयम्'** (सुबो० १०।२।३८) इस वाक्यका अर्थ वे पृष्ठ ४५ पर "the Lord himself represents all the four authoritative cannons." (The Phil. of V. p. 45) करती हैं और पृष्ठ २२३ पर "In the path of Bhakti, the Lord Himself acts as the means of valid knowledge (pramāṇa), the object of knowledge (prameya), the means (sādhana) as well as the fruit (phala)." (The Phil. of V. p. 223). पता नहीं इस एक ही वाक्यके उनके द्वारा किये गये इन दो अर्थोंमें परस्पर क्या सङ्गति है और वे इनमेंसे कौनसा अर्थ सही समझती हैं।

इसी पृष्ठ २२३ पर लेखिकाने दुर्ज्ञ जीवकी समस्याका भी उल्लेख किया है। उनका कहना है कि यदि भगवान् सभीको मोक्ष देनेवाले हैं तो वे दुर्ज्ञ जीवको मोक्ष क्यों नहीं देते। सम्भवतः उन्हें **'सर्वे ब्राह्मणाः भोजयितव्याः'** आदि प्रयोगोंका अर्थ ज्ञात नहीं है।

इस तरह हमने देखा कि लेखिका उन्हीं आरोपोंकी बेसुरी तान अलापती रही हैं और उन्होंने कोई नयी बात नहीं कही है। उनमें वाल्लभदर्शनके व्यवस्थित अध्ययन या समझ का अभाव है। तुलनात्मक अध्ययनके लिए आवश्यक तुलनास्पद शाङ्कर दर्शनके मौलिक सिद्धान्तोंका भी उन्हें ज्ञान नहीं है। उनकी पूरी कृतिमें केवल शाङ्करमतपर अत्यन्त अन्धश्रद्धा और वाल्लभमतपर निष्प्रयोजन अन्धद्वेष ही दिखाई देता है, जिसका बौद्धिक मूल्य कुछ भी नहीं है। लेखिकाका अध्ययन ऐसा अन्तःसारहीन और आत्मवञ्चक है कि उसमें बुद्धिमानोंको सन्तोष दे सकने वाला कुछ भी नहीं है।

यद्यपि षोडशग्रन्थोंपर भी दो-एक स्थलपर लेखिकाने अपनी लेखनीकी स्याहीका दुरुपयोग किया है पर वही पिष्टपेषण होनेके कारण हम यहाँ श्रीवल्लभाचार्यके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके ऊपर किये गये लेखिकाके आक्षेपोंके परिहारात्मक प्रकरणको समाप्त करते हैं।

●

सप्तम अध्याय

'श्रीवल्लभाचार्य के अनुयायियोंकी प्रमुख कृतियाँ' शीर्षक

षष्ठ परिच्छेदकी समालोचना

इस परिच्छेदमें लेखिकाने गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीगिरिधरजी, श्रीलालूभट्टजी तथा श्रीदीक्षितजी महाराज की कृतियोंको सारानुवादार्थ या आलोचनार्थ विचारका विषय बनाया है। वैसे श्रीविट्ठलनाथजीको श्रीवल्लभाचार्यके पुत्र होनेके नाते अनुयायी मानना अयुक्त नहीं है फिर भी सम्प्रदायमें गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथका स्थान श्रीवल्लभाचार्यसे न्यून नहीं है। मुझे तो लगता है कि शुद्धाद्वैत दर्शनके दो मूल आचार्य हैं श्रीवल्लभाचार्य और श्रीविट्ठलनाथजी। अतः लेखिका उनकी कृति विद्वन्मण्डनकी जो भी आलोचना करती हैं उसका जवाब दिये विना हमारा यह प्रयास अधूरा रहेगा। अन्य अनुयायी विद्वानोंका स्वयंका कोई मत नहीं है, वे केवल वाल्लभ मतके व्याख्याता हैं; अतः श्रीवल्लभाचार्य और श्रीविट्ठलनाथ के मतका समर्थन हो जानेके बाद उन्हें स्वतन्त्र समर्थनकी आवश्यकता नहीं रह जाती यही सोचकर उनके बारेमें हमें कुछ भी नहीं लिखना है। कोई यह न सोचे कि उनपर लेखिकाने जो आरोप किये हैं उनमें कुछ दम है, एतदर्थ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है।

विद्वन्मण्डनपर आरोपशृङ्खला पृष्ठ २४४ से शुरू होती है। विद्वन्मण्डनकारका कहना है कि अद्वैतमतानुसार सगुण और निर्गुण ब्रह्मका भेद वास्तविक हो नहीं सकता अन्यथा द्वैतापत्ति होगी और उस भेदको मायिक माननेपर माया और ब्रह्म दोनोंके अनादि होनेके कारण मायोपाधिक जगत्कारण ब्रह्मके भी अनादि होनेसे जगदुत्पत्तिसातत्य दोष आता है। इस आपत्तिका परिहार लेखिका यह देती हैं कि 'सगुण-निर्गुण भेद मायिक है—माया सदसद्‌विलक्षण है—ब्रह्म अद्वितीय है—द्वैत तो अविद्यावश जीवकी भ्रान्ति है जिसका पारमार्थिक स्वभाव (ब्रह्मरूपता) अविद्या से आवृत है। अविद्या अनादि है, पर जीव अपने मूल स्वभावको प्राप्त करनेके प्रयत्नमें व्यक्तिशः उसका नाश कर सकता है।' मुझे लगता है कि लेखिकाने अद्वैतके जो सिद्धान्त रट रखें हैं उनकी आवृत्ति कर रही हैं कि श्रीविट्ठलनाथजी द्वारा दी जाती विरोधी युक्ति कहीं बुद्ध्यारूढ न हो जाये! समझ में नहीं आता कि ऊपर दिये गये वाक्योंमें विद्वन्मण्डनकारकी युक्तिका उत्तर किस अंशमें है।

वैसे हमें तो अव्याघातनियम (Law of Non-contradiction) की उपेक्षा करनेके कारण न श्रीवल्लभाचार्य अदार्शनिक लगते हैं और न श्रीशङ्कराचार्य ही, परन्तु

हमें तब आश्चर्य अवश्य होता है जब इस अव्याघात नियमको लेकर श्रीवल्लभाचार्यके विरुद्ध इतना बावैला मचाने वाली लेखिकाको श्रीशङ्कराचार्यके मायाको 'सद्-असद्-विलक्षण' कहने पर 'Law of Excluded Middle' की उपेक्षा दिखलायी नहीं देती। स्वयं लेखिका इसी २४४ पृष्ठ पर बड़े मज़ेसे 'Avidyā which is neither real nor unreal' कहती हैं और भयभीत नहीं होतीं कि तर्कके मूलनियमका यहाँ भी बाध हो रहा है! वैसे 'सत्' का अर्थ त्रिकालाबाध्य और 'असत्' का अर्थ त्रिकालाबोध्य करनेपर भी लेखिकाको श्रीशङ्कराचार्यपर प्रचलित अर्थके त्याग का आरोप—जैसा कि उन्होंने पहले यत्र-तत्र श्रीवल्लभाचार्यपर लगाया है—तो लगाना ही था! वैसे गगन-कुसुम—जो असत्का उदाहरण माना जाता है—यदि किसी को एल्० एस्० डी० के नशेमें ही दिखलायी पड़ जाये तो असत् और मिथ्या का बहुत भेद तो नहीं रह जाता। परन्तु जब लेखिका सदसद्विलक्षण और सदसद्रूपमें भी सदसद्विवेकके लिए उद्यत नहीं हैं तो आगे क्या चर्चा सम्भव है!

विद्वन्मण्डनकारका कहना है कि स्वयं ब्रह्मसूत्रकार जिज्ञास्य ब्रह्मको जगत्के जन्मादिका कारण बताते हैं जिससे स्पष्ट है कि ब्रह्मको निर्गुण-सगुण भेदसे द्विविध मानना उन्हें अभिप्रेत या स्वीकार नहीं है। इस सन्दर्भमें लेखिका पृष्ठ २४६ पर कहती हैं,

"Hence, according to the author, it is the co-ordination of the two sets of scriptural texts that is intended and not the subordination of one to the other,—although in the application of this concept to the 'nirguṇa'—set of texts, he has to restrict the meaning of the term 'nirguṇa' to a special sense as against its generally accepted sense." (The Phil. of V. p. 246). परन्तु हम कह चुके हैं कि 'सगुण' शब्दके सर्वमान्य अर्थको श्रीशङ्कराचार्यको भी छोड़ना पड़ता है और इसका अर्थ करते समय 'गुण' शब्दका सङ्कोच 'मायिक गुण' के रूपमें करना पड़ता है।

पृष्ठ २४९ पर विद्वन्मण्डनकी एक अत्यन्त सरल पंक्ति लेखिकाको अस्पष्ट लग रही है अतएव वे उसका ग़लत अनुवाद कर स्वयं परेशानीमें पड़ गयी हैं। विद्वन्मण्डनकार केवल यही कहना चाहते हैं कि किसी दर्पणपर उँगली रख देनेपर भी जो थोड़ासा—एक झीने सूतके बराबर—अवकाश बना रहता है वहाँ विद्यमान प्रभा या प्रकाश भी दर्पणमें प्रतिबिम्बित हो ही जाता है[1]। यद्यपि अत्यन्त स्पष्ट होनेके कारण सुवर्णसूत्रकार इस पंक्तिका व्याख्यान नहीं करते हैं पर यदि लेखिकाने सहमुद्रित हरितोषिणी टीका देखनेका कष्ट किया होता तो वहाँ उन्हें यह लिखा मिल जाता कि **'बिसिनी** कमलिनी **तत्सूत्रमात्रान्तरिता या अंगुली** तत्र विद्यमाना या **प्रभा** तस्याः संयोगः किञ्चिदवच्छेदेन **दर्पणेऽस्ति**

1. बिसिनीसूत्रमात्रान्तरितांगुलीतलभागस्थप्रभाया अपि दर्पणे प्रतिबिम्बात्। (विद्वन्मण्डनम्, पृष्ठ ५१-५२)।

इति तस्याः प्रतिबिम्बो दृश्यत इत्यर्थः ।' (विद्वन्मण्डनहरितोषिणी, पृष्ठ ५१-५२)।

हम जो यह कहते हैं कि लेखिकाको शाङ्करमतसे अनुराग है पर उसका गम्भीर अध्ययन नहीं उसका एक मज़ेदार प्रमाण लेखिकाने पृष्ठ दो-सौ-पचास-पर दिया है। विद्वन्मण्डनकारकृत प्रतिबिम्बवादके खण्डनका जवाब देते हुए वे कहती हैं, "Here, it may be pointed out that the theory of reflection is not borne out by the illustrations (given by Ś.) of Ghaṭākāśa, Maṭhākāśa etc. Ś. himself only suggests that the soul is like the space circumscribed by a pot, etc. ... Actually therefore Ś. does not seem to have propounded this theory of reflection (prati-bimba) (except for the illustration he gives in Ś.B. II. 3.50 to explain the non-confusion of actions and results with respect to different jīvas) and it assumed this significance during the period of his followers. ...... Thus, the Reflection-theory which has been responsible for so much of severe polemics reminds a careful reader of the "tilting at windmills"—at least as far as Ś. himself is concerned." (The Phil. of V. p. 250.)

यह भी खूब रही कि प्रतिबिम्बवाद श्रीशङ्कराचार्य द्वारा प्रदत्त उदाहरणोंसे सिद्ध नहीं हो पाता है अतः यह उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही नहीं है। अतः लेखिकाके अनुसार इस सिद्धान्तको यह महत्त्व बादमें श्रीशङ्कराचार्यके अनुयायी विद्वानोंके समयमें मिला। इसलिए प्रतिबिम्बवादमें दिखाये जानेवाले दोषोंसे शाङ्कर सिद्धान्तपर आँच नहीं आती।

इस सन्दर्भमें अधोलिखित वाक्य द्रष्टव्य हैं।

(१) 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' इतिवचनात्। जीवो हि नाम देवताया **आभासमात्रं बुद्ध्यादिभूतमात्रासंसर्गजनित आदर्श इव प्रविष्टः पुरुषप्रतिबिम्बः जलादिष्विव च सूर्यादीनाम्**।....यथा पुरुषादित्यादयः आदर्शोदकादिषुच्छायामात्रेणानुप्रविष्टा आदर्शोदकादिदोषैर्न सम्बद्ध्यन्ते तद्वद् देवतापि। (छान्दो० उप० शाङ्करभाष्य ६।३।२)।

(२) **जलसूर्यादिप्रतिबिम्बवदात्मप्रवेशश्च प्रतिबिम्बवद्व्याकृते कार्ये उपलभ्यत्वम्**। प्रागुत्पत्तेरनुपलब्ध आत्मा पश्चात्कार्ये च सृष्टे व्याकृते बुद्धेरन्तरुपलभ्यमानः **सूर्यादिप्रतिबिम्बवज्जलादौ कार्यं सृष्ट्वा प्रविष्ट इव लक्ष्यमाणो निर्दिश्यते** 'स एव इह प्रविष्टः' 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' (बृह० उप० शाङ्करभाष्य १।४।७)।

(३) ममैव परमात्मनोऽंशो भागोऽवयवः एकदेश इत्यनर्थान्तरम्। जीवलोके जीवानां लोके संसारे जीवभूतो भोक्ता कर्तेति प्रसिद्धः सनातनः। **यथा जलसूर्यकः सूर्यांशो जलनिमित्तापाये सूर्यमेव गत्वा न निवर्तते तथायमप्यंशः तेनैवात्मना सङ्गच्छत्येवमेव**। यथा वा घटाद्युपाधिपरिच्छिन्नो घटाद्याकाश आकाशांशः सन् घटादिनिमित्तापाये आकाशं

प्राप्य न निवर्तते। (गीता शाङ्करभाष्य १५।७)।

(४) यत एव चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः परप्रतिषेधोपदेश्योऽत एव चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य **जलसूर्यकादिवदित्युपमोपादीयते मोक्षशास्त्रेषु,**

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥ इति।
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ (ब्रह्मबिन्दूप० १२) इत्येवमादिषु।

···**युक्त एव त्वयं दृष्टान्तो** विवक्षितांशसम्भवात्। (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य ३।२।१८-२०)

प्रकटार्थविवरणकार, तत्त्वविवेककार, संक्षेपशारीरककार, विवरणकार, श्रीविद्यारण्य, श्रीमधुसूदनप्रभृति सभी विद्वान् प्रतिबिम्बवादको श्रीशङ्कराचार्यका मत मानते आये हैं, बल्कि अधिकांश विद्वान् प्रतिबिम्बवादको ही श्रीशङ्कराचार्यका मूल मत मानते हैं और यह ऊपर दिये गये स्वयं श्रीशङ्कराचार्यके प्रस्थानत्रयीके भाष्यके उद्धरणोंसे भी स्पष्टतया सिद्ध होता है फिर भी प्रतिबिम्बवादको उनका मत न मानना कितने बड़े अज्ञान एवं दुःसाहसका परिचय है ! अतएव हम यह स्पष्टतया समझ सकते हैं कि पृष्ठ २५२-२५३ पर लेखिकाका शुद्धाद्वैतियोंकी युक्तियोंके प्रभावहीन होनेका कथन स्वयं श्रीशङ्कराचार्यके मतके बारेमें कितने बड़े अज्ञानसे प्रसूत है। अवच्छेदवादको लेखिका श्रीशङ्कराचार्यका मुख्य मत मानती हैं, परन्तु इस तरह तो वह भी भामतीकारका मत है, उनके द्वारा विकसित। वैसे ऊपर दिये गये श्रीशङ्कराचार्यके ग्रन्थोंके मूल उद्धरणोंको समझ सकने वाला कोई भी व्यक्ति यह समझ सकता है कि ये दोनों ही मत श्रीशङ्कराचार्यके ही हैं। इसीलिए लेखिकाने पृष्ठ २५३ पर जीवन्मुक्तिकी शाङ्करमताभिमत व्याख्याके लिए तीरका जो उदाहरण दिया है वह भी असङ्गत ही है। इसका कारण यह है कि द्वेष या हिंसा तीरका उपादान कारण नहीं होते जबकि देहादिका उपादान कारण अविद्या या माया ही है क्योंकि उसीमें चित्प्रतिबिम्बके कारण जीवभाव और देहादिका अध्यास होता है, अतः मायाके निवृत्त होनेपर मायिक देह टिक नहीं सकती।

पृष्ठ २५५ पर लेखिका कहती हैं कि श्रीवल्लभाचार्य और उनके अनुयायी श्रुतिके **'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति'** (कौषी० उप० ३।९) इत्यादिवाक्यको अनपेक्षित रूपमें निचोड़कर भगवदिच्छाके सिद्धान्तको गढ़ते हैं। मुझे आश्चर्य यही होता है कि कहाँ तो लेखिका **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** (छान्दो० उप० ६।१।४) श्रुतिके **'इत्येव'** को इतना निचोड़ना चाहती थीं कि उस उपनिषद्के पूरे परिच्छेदको ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जगत्को मिथ्या सिद्ध करनेपर तुली हुई थीं और कहाँ इस वाक्यका केवल अर्थ करनेपर भी इतनी कोपायमान हैं। 'जीवोंमें उत्तरदायित्व नहीं

रह जायेगा' आदि आरोप तो नितान्त बचकाने हैं । नियतिवादमें जब सभी कुछ ईश्वरेच्छा-पर नियत है तो जिन जीवोंमें उत्तरदायित्वकी भावना है वे और जिन जीवोंमें नहीं है वे भी, सभी भगवान्‌की इच्छासे वैसे हैं—वही उनकी नियति है तो अनवस्था कहाँ फैलती है ? इच्छास्वातन्त्र्य मान कर भी तो सभी जीवोंको उत्तरदायित्वपूर्ण नहीं बनाया जा सकता । और फिर बनाया भी जा सकता हो तो भी इन तर्कोंसे—कम-से-कम वेदान्तमें—जब तक श्रुतिवाक्य न दिखला दिये जायें, यह मत न तो असिद्ध होगा और न सिद्ध ।

पृष्ठ २५८ पर लेखिकाने फलभोग द्वारा कर्मक्षयकी मान्यताके कारण आविर्भाव-तिरोभावके सिद्धान्तपर आक्षेप किया है कि वस्तु या क्रिया नित्य होती हो तो कर्मक्षय अनुपपन्न हो जायेगा । वस्तुतः कर्मक्षयका मतलब ही कर्मतिरोभाव है अतः नित्यतामें क्या विरोध आता है ? देहादिके नित्यत्वमें लेखिकाको आपत्ति है कि 'जीवनमें ऐसा अनुभव नहीं होता' मगर हमारा यह कहना है कि स्वयं लेखिका भी यह तो जानती हैं कि जो अनुभवमें नहीं आती ऐसी बातका शास्त्र प्रतिपादन करते हैं और यदि उसे ही अप्रमाण माना जाये तो स्वयं लेखिका द्वारा पृष्ठ १२० पर "Again if 'kartṛtva' were really natural, as is common experience and understanding, it is not necessary for the scriptures to prove it, just as one does not require the scriptures to teach him that the fire is hot. So, it is only what can not be known through other means that scriptures profess to teach." (The Phil. of V. p. 120) इत्यादि कह कर दिये गये श्रीशङ्कराचार्यके बचाव की क्या हालत होगी ? इसी पृष्ठपर लेखिका कहती हैं कि मानवीय वाग्व्यवहार के बलपर यथार्थका निर्धारण नहीं करना चाहिये । 'भावी घट' इत्यादि वाक्यप्रयोगमें भावित्व धर्मको घटमें समवेत बताना अभिप्रेत नहीं है अतः ऐसे प्रयोगोंके आधारपर घटको नित्य नहीं मानना चाहिये । लेखिकाकी यह युक्ति शाङ्कर-दर्शनके अज्ञानसे प्रसूत है । 'गाढमूढोऽहमासं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि[1] वाग्व्यवहार के आधारपर ही अज्ञान सिद्ध होता है । महाभारतको 'mere myth' कहकर तो लेखिका स्वयं असम्बद्धताकी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी हैं, क्योंकि अपनी पुस्तकके प्रारम्भमें लेखिकाने यह स्वीकार किया है कि 'But our concern is with the commentators and their systems and hence it is not necessary for us to try to go beyond our accepted horizon.'' (The Phil. of V. p. 11).

यहाँ श्रीराधाकृष्णन्‌के वेदान्तका तुलनात्मक अध्ययन तो चल नहीं रहा है फिर उनके वाक्योंको उद्धृत कर उनके बलपर श्रीशङ्कराचार्य तथा श्रीवल्लभाचार्य के वेदान्तके स्वीकृत क्षितिजको लाँघनेकी क्या आवश्यकता है ? अतएव जब लेखिका कहती हैं कि

1. किञ्च 'न किञ्चिदवेदिषम्' इतिपरामर्शसिद्ध सौषुप्तिकानुभवोऽप्यत्र प्रमाणम् । (चित्सुखी १।१०)।

"The author tries to put these confusing and contradictory traditional accounts into a syllogistic form and the result is indeed pitiable." (The Phil. of V. pp.258-259) तो उनकी स्थिति सचमुच दयनीय दिखाई पड़ती है। पृष्ठ २५९ पर लेखिका कहती हैं, "This is a further instance how Viṭ.'s arguments seek shelter under the frame of his own system, based on scriptural dogma and his own view of it, and they derive strength from the "straight-jacket" of his predestinarian concepts for the explanation of the 'Āvirbhāva-Tirobhāva' theory. He really is consistent at all costs—but what costs !" (The Phil. of V. p. 259). अवधेय है कि पृष्ठ १५३ पर लेखिका कहती हैं, "in the case of Ś. the interpretations may not faithfully represent the Sūtrakāra's viewpoint, yet they are free from such extraneous influences and are consistent in so far as his own theory of Absolute Non-dualism is concerned." (The Phil. of V. p. 153). और अन्यत्र वे कहती हैं, "Therefore, what remains to be seen is the consistency *within* a system as such—whether one may or may not agree with what V. or Ś. has to say. (The Phil. of V. p. 281-282).

स्पष्ट है कि लेखिकाकी दृष्टिमें जो बात श्रीशङ्कराचार्यके लिए गुण है वही बात श्रीविट्ठलनाथजीके लिए अवगुण है। कभी लेखिका कहती हैं कि सभी वेदान्ती मूलका मनमाना अर्थ निकालते हैं अतः सुसम्बद्धता ही एक कसौटी है जिस पर हम विभिन्न मतोंकी जाँच कर सकते हैं और कभी कहती हैं कि वाल्लभ मत अपने मतके चौखटेमें 'फ़िट' होती युक्तिकी शरणमें जाता है और कभी कहती हैं कि श्रीशङ्कराचार्यका व्याख्यान मूलानुसारी न होनेपर भी स्वयं अपने मतके चौखटेमें तो ठीक 'फ़िट' बैठता है। वस्तुतः यह श्रीवल्लभाचार्यके विरुद्धधर्माश्रयवाले ब्रह्मकी सिद्धि है !

पृष्ठ २६० पर लेखिका कहती हैं कि **'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सयं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'** (छान्दो० उप० ६।९।४) के अद्वैती व्याख्यानमें विद्वन्मण्डनकार वाक्यभेद दोष मानते हैं, पर यह ग़लत है, क्योंकि यहाँ एक वाक्य ही नहीं है। यदि अर्थभेद हो तो भी वाक्यभेद नहीं है क्योंकि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' में 'जगत्की आत्मा ब्रह्म है' कहकर जगत्का ब्रह्मसे भिन्नत्व या भेद दिखलाया जा रहा है, जबकि 'तत्त्वमसि' में श्वेतकेतु और ब्रह्मका अभेद दिखलाया जा रहा है। विद्वन्मण्डनकारकी युक्तिका सार हम यों समझ सकते हैं कि जितने अंशकी पुनः-पुनः आवृत्ति है उतना अंश महावाक्य है। जितना अंश महावाक्य है वह ब्रह्मज्ञानसाधन है। ब्रह्मज्ञानसाधन होनेके कारण महावाक्यमें एकार्थता होनी चाहिये। एकार्थक माननेपर यदि वाक्यमें दो स्वतन्त्र

उद्देश्यविधेयभाव माने जायेंगे तो वाक्यभेद तो होगा ही। वाक्यका मतलब ही उद्देश्य-विधेयभाव है, अतः लेखिकाका यह कहना कि यहाँ अर्थभेद होने पर भी वाक्यभेद नहीं है केवल उनके मीमांसाज्ञानका ही द्योतक है! स्पष्ट है कि 'It means an employment of a technical terminology bereft of its technical aspect.' (The Phil.of V.p. 260) इत्यादि वाक्यद्वारा उपपादित पारिभाषिक पदार्थके अज्ञानका अपराध विद्वन्मण्डनकारके बजाय लेखिकाका ही अधिक है। क्योंकि यदि दो स्वतन्त्र वाक्य हैं तो अर्थभेदका प्रसङ्ग ही नहीं आता और यदि अर्थभेदका प्रसङ्ग है तो वाक्यभेदसे बचा ही नहीं जा सकता।

पृष्ठ २६६ पर वही बेसुरी तान—जीवके स्वतन्त्र कर्तृत्वकी—अलापी जा रही है जिसे वेदान्तके अज्ञानवश लेखिका बहुत महत्त्वपूर्ण समझती हैं, परन्तु हम अब उसे अधिक महत्त्व नहीं देंगे क्योंकि उसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है।

पृष्ठ २६७-६९ में लेखिकाने यह प्रतिपादन किया है कि '**कृतप्रयत्नापेक्षस्तु**........' (ब्रह्मसूत्र २।३।४२) के अणुभाष्यमें श्रीवल्लभाचार्य जो लम्बी हेतुमाला देते हैं वह श्रीशङ्कराचार्यकी व्याख्याके समान ही है और इस तरह जो आरोप श्रीविट्ठलनाथजी शाङ्कर व्याख्यापर करते हैं वह वाल्लभ व्याख्यापर भी लागू होते हैं। परन्तु ये आरोप आधारहीन हैं क्योंकि ईश्वरको फलदानमें कर्मापेक्षा, कर्म करानेमें जीवकृत प्रयत्नोंकी अपेक्षा, प्रयत्नोंमें जीवकी कामनाओंकी अपेक्षा और कामनाओंको पैदा करनेमें उनके लोकप्रवाह—पुष्टिमर्यादाप्रवाहादि स्वभावभेदकी अपेक्षा होती है। अन्तमें हम स्वयं देख सकते हैं कि ईश्वरेच्छा ही तो स्वयं इस मार्गभेदकी नियामिका है तो मूल कारण ईश्वरेच्छा-पर ही आकर टिक जाता है। ऐसी स्थितिमें यह व्याख्या कैसे शाङ्कर व्याख्याके समीप है यह तो लेखिका ही जानें मगर हम लेखिकाके ही शब्दोंमें इतना अवश्य कहेंगे कि, "Well, it would be far better for *her*[1] not to have made any such allegations than to have been the target *her*self[1]." (The Phil. of V. p. 268).

एक बड़ी मज़ेदार बात हमें इस पृष्ठपर आकर स्पष्ट होती है कि लेखिका ईश्वरेच्छा-की स्वीकृतिको ही 'dogmaticism' मानती हैं! क्योंकि इस सूत्रमें—लेखिकाके अज्ञानानुसार—श्रीवल्लभाचार्य ईश्वरेच्छाको बीचमें नहीं लाते अतः उनका व्याख्यान 'dogmatic' नहीं है और श्रीविट्ठलनाथजी लाते हैं अतः उनका व्याख्यान 'dogmatic' है। इस मनोवृत्तिसे अधिक सुन्दर और 'dogmatic tendency' का उदाहरण क्या हो सकता है? लेखिकाके ही शब्दोंमें कहें तो, "It is indeed hard to believe that the Sūtrakāra could have had this meaning (of dogmatism)[2] in view." (The Phil. of V. p 261).

1. मूलमें पाठ him है जिसे यहाँ हमने her में बदल दिया है। (लेखक)।
2. कोष्ठकके अन्तर्गत आये शब्द मेरे हैं। (लेखक)।

पृष्ठ २७१ पर लेखिका कहती हैं कि श्रीविट्ठलनाथजीको अणुपरिमाण जीवके सर्वशरीरव्यापी चैतन्यकी व्याख्याके लिए सभी वेदान्तियोंको अस्वीकार्य समवाय सम्बन्धका सहारा लेना पड़ता है यह आश्चर्यकी बात है तथा श्रीवल्लभाचार्यसे विरोधकी भी। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि थीसिस प्रारम्भ करनेसे, बल्कि वाल्लभमतके अध्ययनसे भी पूर्व लेखिकाने कोई शपथ ली होगी कि मुझे वाल्लभमतमें कम-से-कम इतने दोष ढूँढने हैं और जब न मिले तो जो मनमें आया, जहाँ मनमें आया वहीं दोष मान लिया और अपनी भीष्म-प्रतिज्ञा पूरी कर ली ! श्रीपुरुषोत्तमजी और श्रीगिरिधरजी अपनी टीकाओंमें स्पष्ट कहते हैं कि ये प्रतिबन्दी उत्तर हैं[1]। पूर्वपक्षीको मान्य उदाहरण द्वारा, स्वमत समझानेकी प्रक्रियामें भारतीय दर्शनमें कभी किसीने ऐसी बेतुकी बात नहीं खोजी होगी कि उदाहरण देनेके रूपमें यह मत सिद्धान्तीको स्वीकर करना पड़ा !

पृष्ठ २७८-२७९ पर लेखिका भागवत, महाभारत आदिके आधारपर की गयी नित्यलीलावादकी स्थापनाकी आलोचना करती हैं। वस्तुतः सम्प्रदायके अनुसार यह तो फलाध्यायकी चर्चा है। इससे पहले तो प्रमाण, प्रमेय और साधन के स्वरूपको ठीकसे समझनेकी आवश्यकता है, जिसमें दुर्भाग्यवश लेखिकाका अज्ञान श्रीशङ्कराचार्यकी अविद्यासे भी अधिक व्यापक है। ऐसी स्थितिमें उन्हें कहाँ तक क्या क्या समझायें जो स्वयं यह स्वीकार करते हुए भी कि वेदान्तके व्याख्याकारोंके सिद्धान्तोंपर विचार हमें उनके द्वारा निर्धारित, क्षितिजके अन्दर ही करना चाहिये वैसा कर नहीं पातीं। जब मनमें आये तब श्रुतिका प्रामाण्य और जब मनमें आये तब अप्रामाण्य; जब मनमें आये तब तर्क, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि सामान्य लौकिक ज्ञानोंका महत्त्व और जब मनमें न आये कोई परवाह ही नहीं; एक ही बात श्रीशङ्कराचार्यके लिए गुण और वही बात श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीविट्ठलनाथजी के लिए अवगुण; वाल्लभमतमें केवल दोषदिदृक्षा और शाङ्करमतमें केवल अन्धभक्तिपूर्णप्रशंसा; इसे लेखिका दर्शन, विचार, तर्क और वैज्ञानिक चिन्तन के बड़े-बड़े नामोंका लबादा पहनाती हैं। वस्तुतः उन्हें न तर्कका ज्ञान है, न दर्शनका और न धर्मका ही ! लेखिकाके शोधप्रबन्धके अवलोकनसे हमारे सामने यही निष्कर्ष आता है। वाल्लभ वेदान्तके विद्यार्थियोंको अज्ञान, भ्रान्ति और धर्मान्धता के इस अथाह सागरमें डूबनेसे किसी तरह बचाना ही हमारी इस आलोचनाका मुख्य प्रयोजन है।

वैसे स्वयं लेखिका और हम, दोनों एक ही गुरु गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराजके शिष्य हैं परन्तु दुर्भाग्यवश लेखिकाका शाङ्कर दर्शनका ठोस अध्ययन नहीं है और वाल्लभमतपर अत्यन्त द्वेषभाव है। जबकि मुझे दादाजी (गो० दीक्षितजी) ने वाल्लभ दर्शनसे भी पहले शाङ्कर दर्शन पढ़ाया और समझनेका आग्रह रखा। अतएव कम-से-कम

1. इदं प्रतिबन्दित्वायोक्तं न तु सिद्धान्तत्वेनेति ज्ञेयम्। (विद्वन्मण्डनसुवर्णसूत्रम्, पृष्ठ १८७)।
तत्र पूर्वपक्षोपरि प्रतिबन्द्या अयं पूर्वपक्ष इति ज्ञेयम्। (विद्वन्मण्डनहारितोषिणी, पृष्ठ १८७)।

उन बातोंमें इन दो महान् आचार्योंकी तुलना नहीं करनी चाहिये जिनमें ये एकमत हैं और न उन आधारभूत सिद्धान्तोंकी आलोचना करनी चाहिये जिनके विना वेदान्त दर्शनकी कल्पना ही नहीं हो सकती। वेदान्त दर्शन व्याख्यावादी दर्शन है स्वोत्प्रेक्षामूलक दर्शन नहीं। व्याख्याकारकी व्याख्या स्वतन्त्र हो सकती है पर मत स्वतन्त्र नहीं। क्योंकि अन्यथा किसी अन्य प्रमाणकी व्याख्याकी आवश्यकता ही नहीं, स्वयं अपना मत अपने शब्दोंमें कहना चाहिये। व्याख्या करते समय स्वयंकी तार्किकता या सुसम्बद्धता का उतना महत्त्व नहीं होता जितना कि व्याख्येय प्रमाणका या शब्दके सन्दर्भमें उसके तात्पर्यका। जो व्याख्येय शब्दोंका तात्पर्य ठीकसे समझाता है वही श्रेष्ठ व्याख्याता है—कौन महान् तार्किक है और कौन सुसम्बद्ध दार्शनिक है यह प्रश्न नहीं है। स्वयं ब्रह्मसूत्रकार उपनिषद्-व्याख्याता होनेके कारण शब्द या उपनिषद् का प्रामाण्य सिद्ध करनेके लिए एक सूत्र नहीं रचते हैं। क्योंकि वे स्वयंका नहीं परन्तु उपनिषद्का मत क्या है यही कहना चाहते हैं। अन्यथा प्रारम्भमें उपनिषद् प्रमाण हैं कि नहीं इस प्रश्नपर ब्रह्ममीमांसा बन्द हो सकती थी। किन्तु शब्द प्रमाण हैं यों मीमांसा दर्शनके सर्वमान्य सन्दर्भमें ही ब्रह्ममीमांसा प्रारम्भ होती है। अतएव श्रीवल्लभाचार्य, श्रीरामानुजाचार्यकी तरह शास्त्रैक्यवादको न मानते हुए भी स्पष्टतर शब्दोंमें निबन्ध आदि ग्रन्थोंमें यह समझाते हैं कि इन दोनों मीमांसाओंका प्रयोजन एक ही है, वेदराशि—वेदादिशास्त्रों की समन्वित व्याख्या या एकार्थता। अतएव अणुभाष्यके प्रारम्भमें वे कहते हैं कि "**कर्तव्यपदाध्याहारे स्वातन्त्र्यं न भवति। अन्यथा 'अथ योगानुशासनम्' इतिवत् स्वतन्त्रता स्यात्। तथा च ज्ञानानुपयोगः। तथाहि— 'तं त्वौपनिषदं पृच्छामि'** (बृह० उप० ३।९।२६) **इति केवलोपनिषद्वेद्यं ब्रह्म न शास्त्रान्तरवेद्यम्। तद्यदि मीमांसा स्वतन्त्रा स्यात् तज्जनितं ज्ञानं न ब्रह्मज्ञानं भवेत्।.... वेदार्थब्रह्मणो वेदानुकूलविचार इति। किमत्र युक्तम्? व्याख्यानमिति। व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः। यथा कर्मणि दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः 'अथातो दर्शपूर्णमासौ व्याख्यास्यामः'** (आश्व० श्रौतसूत्र १।१) **इति।**" (अणुभाष्य १।१।१) अर्थात् सांख्य, योग्य, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनोंकी तरह यहाँ स्वतन्त्र विचार नहीं हो सकता क्योंकि जिज्ञासुकी जिज्ञासा यह है कि उपनिषद्में प्रतिपाद्य ब्रह्म क्या-कैसा है। अब यदि हम स्वतन्त्र कल्पना या तर्क के आधारपर कोई धारणा गढ़ते हैं तो वह जिज्ञासुकी जिज्ञासाका समाधान नहीं कर सकती क्योंकि वह हमारे विचार नहीं किन्तु उपनिषद्के विचार जानना चाहता है। हमारे पास केवल उपनिषद्की समन्वित व्याख्या ही एक उपाय है जो जिज्ञासुकी जिज्ञासाका समाधान कर सके। जैसे कर्मशास्त्रमें कर्मस्वरूपकी जिज्ञासा वेदके कर्मकाण्डकी समन्वित व्याख्याके रूपमें की जाती है वैसे ही ब्रह्मशास्त्रमें ब्रह्मस्वरूपकी जिज्ञासा वेदके ज्ञानकाण्डकी समन्वित व्याख्या ही हो सकती है। यह जिज्ञासु भी हर कोई नहीं, केवल वही बन सकता है जिसने वेदाध्ययन किया है और जो वेदके तात्पर्यको समझनेकी इच्छा रखता है

('न ह्यनधीत एव विचारमर्हति'—अणुभाष्य १।१।१)। अतएव जिज्ञासाधिकरणका संशय भी अणुभाष्यकार, 'ब्रह्म जिज्ञास्य है या नहीं' यह नहीं मानते (यद्यपि कण्ठोक्त जिज्ञास्य ब्रह्म ही है) अपितु वेदान्त—उपनिषदर्थ जिज्ञास्य है या नहीं यह मानते हैं, जिससे ब्रह्म केवल उपनिषदर्थके रूपमें ही जिज्ञास्य बने स्वतन्त्रतया नहीं। और यही कारण है कि जिज्ञासाधिकरणकी समाप्तिपर वे कहते हैं कि **'वेदप्रामाण्यं तु प्रतितन्त्रसिद्धत्वान्न विचार्यते'** (अणुभाष्य १।१।१)। इसकी व्याख्या करते हुए प्रकाशकार श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि वेदार्थ ब्रह्मके वेदानुकूल विचारकी प्रतिज्ञा करते हुए भी वेदप्रामाण्यका विचार इसलिए नहीं किया जा रहा है कि यह विचार जिस गोष्ठीमें हो रहा है वह गोष्ठी, आस्तिकोंकी है नास्तिकोंकी नहीं। **'नहि नास्तिकनिग्रहाय आचार्यस्य विचारे प्रवृत्तिः, किन्तु आस्तिकशिक्षणाय। ते तु सर्वे वेदप्रामाण्ये निर्विचिकित्सा इति प्रयोजनाभावान्न विचार्यते।'** (अणुभाष्यप्रकाश १।१।१) अर्थात् आस्तिकोंको यह संशय पैदा नहीं होता कि वेद प्रमाण है कि नहीं, तो इसके विचारकी भी क्या आवश्यकता है। यद्यपि आस्तिकोंके वेदाध्ययनके बाद 'ब्रह्म है कि नहीं' यह संशय भी नहीं होता, परन्तु फिर 'ब्रह्म कैसा है' यह जिज्ञासा होती ही है, अतः विचार आवश्यक है। और वेदप्रामाण्यवादी ऋषि भी जब अब्रह्मवादी स्वतन्त्र दर्शनोंका प्रतिपादन करते हैं तो फिर 'ब्रह्म है कि नहीं' यह सन्देह भी कभी उठ सकता है, अतः उपनिषद्दर्शन—जो मूलतः ब्रह्मवादी है—को वेदोंके अध्येताओंके सामने स्पष्टतया रखनेके लिए वेदान्त दर्शन प्रारम्भ होता है।

इस सन्दर्भमें वेदको प्रमाण श्रद्धावश नहीं अपितु बौद्धिक अनिवार्यतावश मानना पड़ता है। यदि स्पिनोज़ा, काण्ट, श्रीशङ्कराचार्य या स्वयं श्रीमती मृदुला मारफ़तियाका मत क्या है यह जाननेके लिए उनके ग्रन्थोंको प्रमाण न मानकर अपनी बुद्धि या तार्किकता पर कोई विश्वास करे तो वह कहाँ तक उचित व्याख्या कर पायेगा ? अत एव श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं **'तस्मात् प्रमाणमेवानुसर्तव्यं न युक्तिः।······युक्तिगम्या तु अब्रह्मविद्या'** (अणुभाष्य १।२।३२), जिसे लेखिका श्रीवल्लभाचार्यकी अन्धश्रद्धा समझती हैं ! यदि व्याख्येय ग्रन्थको प्रमाण मानना ही व्याख्याकारकी अन्धश्रद्धा हो तो दुनियामें प्रामाणिक व्याख्याका ही लोप हो जायेगा !!

आधुनिक इतिहासकारोंके खड़े किये हुए झगड़े कि वेद इस कालमें बना और पुराण इस कालमें, न तो श्रीशङ्कराचार्यको स्वीकार्य हैं और न श्रीवल्लभाचार्यको। अतएव वेद, वेदान्तसूत्रों का पुराणानुसारी व्याख्यान लेखिकाको बाह्य मिश्रण लगता है परन्तु वह वैदिक सम्प्रदायमें कभी किसी विचारकको बाह्य नहीं लगेगा। यह हम सुविशद रीतिसे अपनी आलोचनामें दिखला ही चुके हैं। स्वयं सूत्रकार भी स्मृति-प्रामाण्य मानते हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि व्याख्येय ग्रन्थके रूपमें सूत्रकारके समक्ष केवल उपनिषद् ही नहीं है अपितु समग्र वैदिक वाङ्मय है, जिसमें संहिता, आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद्,

स्मृति, पुराण, इतिहास (महाभारत—जिस लेखिका mere myth मानती हैं) आदि अनेक ग्रन्थ समाविष्ट हैं। इन सबकी समन्वित व्याख्या वेदान्तसूत्रकारका लक्ष्य है, केवल उपनिषद्‌की ही व्याख्या नहीं। ऐसी स्थितिमें पुराणानुसारी सूत्रव्याख्याको बाह्यमिश्रण नहीं माना जा सकता। उत्तरोत्तर व्याख्येय ग्रन्थोंके समन्वयका उत्तरदायित्व बढ़ता जाता है क्योंकि यहाँ कोई भी विचारक मौलिक नहीं किन्तु साम्प्रदायिक और प्रामाणिक है। इसीलिए सम्प्रदायका मतलब ही 'परम्पराप्राप्त उपदेश' है। उदाहरणतया ब्रह्मसूत्रकारकी दृष्टिमें जो व्याख्येय ग्रन्थ हैं उनकी अपेक्षा श्रीशङ्कराचार्यके लिए व्याख्येय कोटिमें स्वयं ब्रह्मसूत्र एक अधिक जुड़ता है। पश्चाद्वर्ती टीकाकारोंके लिए, शाङ्करसम्प्रदायमें शाङ्कर भाष्य भी व्याख्येय ग्रन्थमें समाविष्ट होकर स्वतः प्रमाणकोटिमें ही मान्य होगा। अत एव श्रीशङ्कराचार्य बृहदारण्यकोपनिषद्के अपने भाष्यके प्रारम्भमें ही कहते हैं '**ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्यः**' (बृह० उप० शाङ्कर भाष्य १।१।१) और इसीलिए वे गीताके अपने भाष्यमें भी कहते हैं, '**असम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदेवोपेक्षणीयः**' (गीता शाङ्करभाष्य १३।२)। इसका कारण यही है कि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों ही व्याख्यावादी दर्शन हैं, उत्प्रेक्षावादी दर्शन नहीं।

दर्शन और देवशास्त्र अर्थात् 'Philosophy' और 'Theology' का प्रभेद यूरोपीय विचारोंमें चल सकता है भारतीय—और कम-से-कम आस्तिक षड्दर्शनमें तो नहीं चल सकता। अतः वाल्लभ मतको देवशास्त्र मानना उसका अपमान नहीं है परन्तु Philosophy और Theology के सन्दर्भमें शाङ्कर मतको Philosophy मानना शाङ्कर मतका महान् अपमान है, यह दृढतर बात है।

इन सारे सन्दर्भोंको देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि वाल्लभ मत Philosophy हो या न हो किन्तु प्रस्थान-चतुष्टयीके चारों कोनोंपर अवलम्बित एक सुन्दर, सुदृढ वेदान्त दर्शनका भवन है और वैसे तो निष्पक्ष हो कर कहें तो हम भी यही कहना चाहेंगे कि, 'वत्स ! न वेत्सि किं युक्तिकनकपङ्कसङ्घट्टितविविधनिगममहामणिविरचितब्रह्मवादभवनं मम !' (विद्वन्मण्डनम्, pp. 105—106).

●

प्रस्तुत कृति में प्रयुक्त एवं उल्लिखित प्रमुख ग्रन्थों तथा उनके लिए प्रयुक्त सङ्केतों की अकारादिक्रमसे सूची

अद्वयवज्रसङ्ग्रहः

अद्वैतसिद्धिः श्रीमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता गौडब्रह्मानन्दीव्याख्यासिद्धिव्याख्यादियुता, निर्णयसागर प्रेस १९१७ ई० ।

अनुव्याख्यानम् श्रीमन्मध्वाचार्यविरचितम् ।

अणुभाष्यप्रकाशः श्रीपुरुषोत्तमकृतः श्रीतेलीवालासम्पादितः ब्रह्मसूत्राणुभाष्यव्याख्यारूपः, बम्बई ।

आर्यरत्नावली (रत्नावली) नागार्जुनकृता । बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली १० (मिथिला विद्यापीठ दरभङ्गा १९६० ई०) में मुद्रित ।

आवरणभङ्गः श्रीपुरुषोत्तमकृतः तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशव्याख्यारूपः । से० ना० से० जे० आ० पुष्टिमार्गीय ग्रन्थमाला रत्न ११-१२ (बम्बई १९४०; १९४३) में मुद्रित ।

आश्वलायनश्रौतसूत्र (आश्व० श्रौतसूत्र)

ईशोपनिषद् (ईशोप०) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१०

ईशोपनिषद्-शाङ्करभाष्यम् (ईशोप० शाङ्करभाष्य) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१०

उपदेशसाहस्री श्रीशङ्कराचार्यकृता, गुजरातीप्रेस बम्बई, १९१७ ई०

ऋग्वेदसंहिता (ऋक्सं०)

ऐतरेयोपनिषद् (ऐत० उप०) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१३

ऐतरेयोपनिषद्-शाङ्करभाष्यम् (ऐत० उप० शाङ्करभाष्य) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१३

कठोपनिषद् (कठोप०) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१३

कठोपनिषद्-शाङ्करभाष्यम् (कठोप० शाङ्करभाष्य) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१३

कृष्णयजुर्वेदान्तर्गततैत्तिरीयारण्यकम् सायणाचार्यविरचितभाष्यसहितम्, कलकत्ता ।

केनोपनिषद् (केनोप०) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१२

केनोपनिषद्-शाङ्करभाष्यम् (केनोप० शाङ्करभाष्य) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१२

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् (कौषी० उप०) 'उपनिषत्संग्रहः' (मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९७० ई०) में मुद्रित ।

खण्डनखण्डखाद्यम् श्रीहर्षविरचितम् । अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, वि० सं० २०१८

गूढार्थदीपिका (गूढार्थदी०) श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृता श्रीमद्भगवद्गीताटीका, श्रीमद्भगवद्गीता (एकादशटीकोपेता), (गुजराती प्रेस बम्बई, १९३५ ई०) में मुद्रित ।

छान्दोग्य-उपनिषद् (छान्दो० उप०) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१३

छान्दोग्योपनिषद्-शाङ्करभाष्यम् (छान्दो० उप० शाङ्करभाष्य) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१३

तत्त्वदीपनम् आनन्दगिरिशिष्याखण्डानन्दमुनिकृतपञ्चपादिकाविवरण-व्याख्यानम् । कलकत्ता संस्कृत सीरीज़ नं० १ भाग २ (सन् १९३३ ई०) में मुद्रित ।

तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) नयनप्रसादिनीव्याख्यायुता, वाराणसी, १९५६ ई०

तत्त्वरत्नावली अवधूत अद्वयवज्रलिखित

तत्त्वसंग्रहः शान्तरक्षितविरचितः कमलशीलकृतपञ्जिकोपेतः । गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज़ बड़ौदा, १९२६ ई०

तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (शास्त्रार्थप्रकरण) श्रीवल्लभाचार्यकृत, श्रीकेदारनाथमिश्रसम्पादित भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी १९७० ई०

तैत्तिरीय-उपनिषद् (तैत्ति० उप०) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २००९

तैत्तिरीयोपनिषद्-शाङ्करभाष्यम् (तैत्ति० उप० शाङ्करभाष्य) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २००९

दर्शनोदयः लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्यप्रणीतः । मैसूर १९३३ ई०

न्यायभाष्यम् वात्स्यायनकृतम् । काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ४३ (वाराणसी १९७० ई०) में मुद्रित ।

न्यायवार्तिकम् उद्योतकरप्रणीतम्, वाराणसी १९१६ ई०

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका श्रीवाचस्पतिमिश्रकृता । मिथिला विद्यापीठ दरभङ्गा से १९६७ ई० में प्रकाशित न्यायचतुर्ग्रन्थिकासमलंकृत 'न्याय-दर्शनम्' भाग १ में मुद्रित ।

न्यायसिद्धाञ्जनम् वेदान्तदेशिकविरचितम् । गङ्गानाथझा ग्रन्थमाला २, वाराणसी १९६६ ई०

न्यायसूत्राणि गौतमप्रणीतानि । काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ४३, वाराणसी १९७० ई०

पद्मपुराणम् (पद्मपु०) आनन्दाश्रम पूना, १८९३ ई०

प्रदीपः श्रीअनन्तकृष्णशास्त्रिकृतः ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यव्याख्यारूपः। कलकत्ता संस्कृत सीरीज़ नं० १ भाग २ (सन् १९३३ ई०) में मुद्रित।

प्रमाणवार्तिकम् (प्र० वा०) धर्मकीर्तिकृतम्। The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna, Vol. XXIV.,1938 में मुद्रित।

प्रमेयरत्नार्णव श्रीबालकृष्णभट्टविरचित। श्रीकेदारनाथमिश्र द्वारा सम्पादित एवं अनूदित, आनन्द प्रकाशन वाराणसी १९७१ ई०

प्रसन्नपदावृत्तिः चन्द्रकीर्तिकृता। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली १० (मिथिला विद्यापीठ दरभङ्गा, १९६० ई०) में मुद्रित।

प्रश्नोपनिषद् (प्रश्नोप०) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१२

प्रश्नोपनिषद्-शाङ्करभाष्यम् (प्रश्नोप० शाङ्करभाष्य) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१२

प्रज्ञापारमिताशास्त्र

बृहदारण्यक-उपनिषद् (बृह० उप०) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१४

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकम् (बृह० उप० भाष्यवार्तिक) श्रीमत्सुरेश्वराचार्यविरचितम्, आनन्दगिरिकृतशास्त्रप्रकाशिकासंवलितम्, आनन्दाश्रम, पूना १८९३ ई०

बृहदारण्यकोपनिषद्-शाङ्करभाष्यम् (बृह० उप० शाङ्करभाष्य) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१४

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् परिमलोपबृंहितकल्पतरुव्याख्यायुतभामतीविलसितम्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३८ ई०

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् भामत्यादिव्याख्योपव्याख्यानवकोपेतम्, कलकत्ता संस्कृत सीरीज़, नं० १ भाग २, सन् १९३३ ई०

ब्रह्मसूत्राणि (ब्रह्मसूत्र) व्यासकृतानि।

भागवतभावार्थदीपिका (भाग० भावार्थदीपिका) श्रीधरविरचिता। श्रीकृष्णशङ्करशास्त्री द्वारा सम्पादित श्रीविद्याहितनिधि से प्रकाशित, वाराणसी में सन् १९६५ ई० में मुद्रित अनेकव्याख्यासमलंकृत 'श्रीमद्भागवतमहापुराणम्' में संगृहीत।

भागवतभावार्थप्रकाशिका (भाग० भावार्थप्रकाशिका) श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृता। पूर्वोक्त 'श्रीमद्भागवतमहापुराणम्' में मुद्रित।

भागवतार्थप्रकरणम् (भागवतार्थप्र०) श्रीवल्लभाचार्यकृतम्। बालकृष्ण शुद्धाद्वैत महासभा, बड़ा मन्दिर, सूरत वि० सं० १९९१

भावार्थदीपिकाप्रकाशः श्रीवंशीधरविरचितः श्रीधरकृतश्रीमद्भागवतटीका-व्याख्यारूपः । पूर्वोक्त 'श्रीमद्भागवतमहापुराणम्' में मुद्रित ।

मत्स्यपुराणम् (मत्स्यपु०)

मध्यमकशास्त्रम् नागार्जुनकृतम्, चन्द्रकीर्तिकृतप्रसन्नपदायुतम्, बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली १०, मिथिला विद्यापीठ दरभङ्गा, १९६० ई०

माण्डूक्यकारिकाः गौडपादाचार्यकृताः, गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१३

माण्डूक्योपनिषद्-शाङ्करभाष्यम् (माण्डू० उप० शाङ्करभाष्य) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१३

मुण्डकोपनिषद् (मुण्ड० उप०) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१३

मुण्डकोपनिषद्-शाङ्करभाष्यम् (मुण्ड० उप० शाङ्करभाष्य) गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१३

लङ्कावतारसूत्रम् बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली ३, मिथिला विद्यापीठ दरभङ्गा, १९६३ ई० में मुद्रित ।

विद्वन्मण्डनम् श्रीविट्ठलनाथकृतम्, सुवर्णसूत्र-हरितोषिणीगङ्गाधरभट्टी-सिद्धान्त-शोभा-टिप्पण्यादिसंवलितम् ।

विद्वन्मण्डनसुवर्णसूत्रम् श्रीपुरुषोत्तमविरचितम् ।

विद्वन्मण्डनहरितोषिणी श्रीगिरिधरकृता ।

विवेकचूडामणिः श्रीशङ्कराचार्यकृतः, गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१८

वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्रकृता चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, वि० सं० २०२०

शब्दस्तोममहानिधिः

शास्त्रदीपिका पार्थसारथिमिश्रकृता । चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९१६ ई०

शास्त्रार्थप्रकरणकारिकाः (शास्त्रार्थप्र० का०) श्रीवल्लभाचार्यकृताः । श्रीकेदारनाथमिश्रसम्पादित 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध' (शास्त्रार्थ-प्रकरण), भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी १९७० ई० में मुद्रित ।

शास्त्रार्थप्रकरणप्रकाशः (शास्त्रार्थप्र० प्र०) श्रीवल्लभाचार्यकृतः पूर्वोक्त 'तत्त्वार्थ-दीपनिबन्ध' (शास्त्रार्थप्रकरण) में मुद्रित ।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् (अणुभाष्य) श्रीवल्लभाचार्यकृतम्, श्रीतेलीवालासम्पादितम्, बम्बई वि० सं० १९९२

श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् (सर्वोत्तमस्तोत्र) श्रीविट्ठलनाथकृतम्, श्रीवल्लभश्रीरघुनाथकृत-विवृतिद्वययुतम्, गुजरात प्रिंटिंग प्रेस अहमदाबाद, श्रीवल्लभाब्द ४८१

श्लोकवार्तिकम्　(श्लोकवा०) कुमारिलभट्टकृतम् । मद्रपुरीय विश्वविद्यालय संस्कृतग्रन्थावलि: १३, सन् १९४० ई०

षट्पदी　श्रीशङ्कराचार्यकृता ।

समाधिराजसूत्रम्　बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली २, मिथिला विद्यापीठ दरभङ्गा, १९६१ ई० में मुद्रित ।

सर्वदर्शनसङ्ग्रहः　(सर्वद० स०) माधवाचार्यविरचित । विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला ११३, वाराणसी १९६० ई०

सर्वनिर्णयप्रकरणम्　(सर्वनि० प्र०) श्रीवल्लभाचार्यकृतम् । से० ना० से० जे० आ० पुष्टिमार्गीय ग्रन्थमाला रत्न १२, बम्बई १९४३ ई०

सर्वनिर्णयप्रकरणप्रकाश　(सर्वनि० प्र० प्र०) श्रीवल्लभाचार्यकृत । पूर्वोक्त पुष्टिमार्गीयग्रन्थमाला रत्न १२ में मुद्रित ।

सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहः　श्री अप्पयदीक्षितविरचितः । अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, वि० सं० २०११

सुबोधिनी　(सुबो०) श्रीमद्वल्लभाचार्यकृता श्रीमद्भागवतटीका । बम्बई से प्रकाशित संस्करण तथा पूर्वोक्त 'श्रीमद्भागवतमहापुराणम्' में मुद्रित ।

A History of Philosophy : Frederick Copleston, S. J. Vol. II, Pt. II, Image Books edition 1962 (New York).

An Introduction to Philosophical Analysis : John Hospers Routledge and Kegan Paul Ltd., London. Second Editon 1967.

Chambers's Twentieth Century Dictionary. W. & R. Chambers, Ltd., London & Edinburgh, 1938.

The Philosophy of Vallabhācārya : Dr. (Mrs.) Mrudula I. Marfatia. Munshiram Manoharlal, Delhi, 1967 A.D.

The Yoga and Its Objects : Sri Aurobindo. Arya Publishing House, 63 College Street Calcutta, Third Edition 1943.

Why I am Not a Christian : Bertrand Russell. George Allen and Unwin Ltd., London. Fifth Impression 1964.

•

मुद्रणमें हो गयो अशुद्धियोंका शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित पाठ	अभीप्सित शुद्ध पाठ
१	१०	द्वारा	द्वारा
१	१६	शिद्धान्त	सिद्धान्त
१	१७	जिसक	जिसके
१	१८	अघ्ययन	अध्ययन
१	२०	महत्वपूर्ण	महत्त्वपूर्ण
१	२४	The Mayawada	the *Māyāvāda*
१	२४	Adwait	*Advaita*
१	२८	minds.	minds.''
१	२९	p. 30	p. 45
३	२	विद्या ।	विद्या ।'
४	३०	ऋ्क्सं०	ऋक्सं०
४	३१	ऋ्चौ	ऋचौ
५	३	तर्कस्यविप्रलम्भकत्वं	तर्कस्य विप्रलम्भकत्वं
५	२८	jnāna	jñāna
१०	३	वाक्यके	वाक्यको
११	८–९	प्रमाणवार्तिक श्लोक-३४२ की व्याख्यामें	प्रमाणवार्तिकमें
११	११	जाड्ये ॥	जाड्ये ॥ (प्र० वा० १।३४२)
१२	२५	ऋ्षियों	ऋषियों
१५	२५	मीमांसा	मीमांसा,
१६	५	केवलइतना सा	केवल इतना सा
१८	२५	अक्षरब्रह्मके	अक्षरब्रह्म के
१९	३	accepted	accepted'
१९	१६	चेष्टाकी	चेष्टा की
१९	१९	प्रतिपादन–	प्रतिपादन
२९	५	god	God
३२	१	probuce	produce
३७	२७	वृह० उप० २।१।२०	वृह०उप० शाङ्करभाष्य २।१।२०
३७	३०	हि प्रमाणानि	हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि

३७	३२–३३	तस्याप्यन्येन इत्यनवस्था	तस्याप्यन्येन परीक्ष्येत तस्या-प्यन्येन इत्यनवस्था ।
३८	२	प्रत्यक्ष	प्रत्यक्षतः
३८	३२	भाष्यवार्तिक	भाष्यवार्तिक २।४।३२५–३२६; पृष्ठ १०८७
३९	१६	ज्ञानतो	ज्ञान तो
४०	३१	(श्लोकवार्तिक, १।१।५)	(श्लोकवार्तिक १।१।५।११)
४०	३२	प्रमाणान्तरविषयमेव	प्रमाणान्तराविषयमेव
४२	१५	परहेज़की	परहेज़ भी
४२	२२, २३	कुल्या	कूल्या
४२	२२, २३	अघिवहन्ति	अभिवहन्ति
४२	२३	पितृन्	पितॄन्
४३	३१	सिद्धविद्या	सिद्धचतुर्दशविद्या
४७	३१	घर्मीं	धर्मी
५७	१४	त्रिकालाबाध्यत्वं	त्रिकालाबाध्यत्व
६८	१९	विधर्मक	निर्धर्मक
७०	१०	भावना	भावता
७०	११	उद्धृत)	उद्धृत, रत्नावली १।४२)
७१	१४	कुर्वन्	कुर्वन्
७३	२०	ब्रह्मसूत्रमें	ब्रह्मसूत्रभाष्यमें
७९	२१	घर्ममें	धर्ममें
८२	२३	लीपापोतीकी	लीपापोती की
९१	१९	'Vedānta.'	'Vedānta.' "
९१	२१	श्रुतिपादित	श्रुतिप्रतिपादित
९१	२२	This	"This
९३	२०	सूत्राशय गोचर	सूत्राशयागोचर
९६	२९	पूर्ण	पूर्ण
९९	१८	आविद्यिक	आविद्यक
१०३	९	वैकृतम् ।"	वैकृतम् ।' "
१०४	२	m ꣸ ning	meaning
१०८	१६	of Lord's	of the Lord's
११५	२५	तत्सयं	तत्सत्यं

श्रीवाल्लभग्रन्थमाला [में प्रकाशित होने वाले ग्रन्थों की सूची]

पुष्प–१ भक्तिहंस तथा **पुष्प–२ भक्तिहेतुनिर्णय** : गो० श्रीविट्ठलनाथकृत; श्रीकेदारनाथ मिश्र द्वारा अनूदित तथा उपलब्ध सभी संस्कृत टीकाओं का आलोडन कर लिखी गयी अपनी सरल-सुबोध हिन्दी व्याख्या सहित सम्पादित, गवेषणापूर्ण उपोद्घात एवं टिप्पणियों से संवलित (अगस्त १९७४ में प्राप्य)।

पुष्प–३ अणुभाष्यकी प्रामाण्य-भूमिका : 'श्रीवल्लभविज्ञान' के यशस्वी सम्पादक गो० श्याम की श्रीवल्लभाचार्य के सिद्धान्त की प्रामाण्य सम्बन्धी प्राग्धारणाओं का अन्य दर्शनों के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वाली अपूर्व कृति। (शीघ्र प्रकाश्य)।

पुष्प–४ श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप : पण्डितप्रवर गो० श्याम की यह कृति आपके हाथों में है।

हमारे आगामी प्रकाशन

पुष्प–५–१० श्रीमदणुभाष्यम् श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितम्
पुष्प–११–१२ गोस्वामिश्रीदीक्षितग्रन्थसंग्रह
पुष्प–१३–१४ भक्तिमार्तण्ड योगी गोपेश्वर विरचित
पुष्प–१५–१६ प्रस्थानरत्नाकर गो० श्रीपुरुषोत्तमविरचित
पुष्प–१७ सर्वनिर्णयप्रकरण श्रीवल्लभाचार्यकृत स्वोपज्ञप्रकाशटीका सहित
पुष्प–१८ विद्वन्मण्डन गो० श्रीविट्ठलनाथविरचित

पुष्प ५ से १८ तक प्रत्येक पुष्प गवेषणापूर्ण भूमिका, विशद हिन्दी व्याख्या, टिप्पणियों एवं परिशिष्टों आदि से संवलित होगा। इन ग्रन्थों का सम्पादन विद्वद्रत्न गो० श्याम तथा श्रीकेदारनाथ मिश्र कर रहे हैं। सुरुचिपूर्ण मुद्रण, पक्की जिल्द और स्वल्प मूल्य के यह सर्वाङ्गसुन्दर संस्करण सभी दृष्टियों से संग्राह्य हैं।

श्रीवाल्लभग्रन्थमाला योजना की सदस्यता के नियम

दस रुपया सदस्यता शुल्क देकर कोई भी व्यक्ति या संस्थान इस ग्रन्थमाला का **साधारण सदस्य** बन सकता है। ऐसे प्रत्येक साधारण सदस्य को दस रुपया मूल्य की पुस्तकें **निःशुल्क उपहार** में दी जायेंगी। साधारण सदस्य प्रतिवर्ष वार्षिक सदस्यता शुल्क के रूप में बीस रुपये देंगे और उन्हें इस ग्रन्थमाला की कम से कम बीस रुपया मूल्य की पुस्तकें प्रतिवर्ष उपहार में दी जायेंगी।

सौ रुपया या उससे अधिक देने वाले व्यक्ति या संस्थान ग्रन्थमाला के **विशिष्ट**

सदस्य माने जायेंगे और उन्हें भी दस रुपया मूल्य की पुस्तकें निःशुल्क उपहार में दी जायेंगी; साथ ही वे जिस वर्ष जितनी सहायता देंगे उस वर्ष उतने ही मूल्य की पुस्तकें उन्हें उपहार में दी जायेंगी (जिनमें से कुछ पुस्तकें उनकी इच्छा होने पर उनके निर्देश के अनुरूप विद्वानों या संस्थाओं को उनकी ओर से भेंट कर दी जा सकती हैं)।

सम्पर्कसूत्र : व्यवस्थापक **श्रीवाल्लभग्रन्थमाला,**
आनन्द प्रकाशन, बी २/१७८ ए, भदैनी
वाराणसी–१ (पिन कोड २२१००१)।

श्रीवाल्लभग्रन्थमाला योजना के सदस्यों की सूची

विशिष्ट सदस्य

परमादरणीय गोस्वामिप्रवर श्रीदीक्षितजी महाराज, बड़ा मन्दिर, भुलेश्वर, बम्बई

परमादरणीय गोस्वामिप्रवर श्रीश्याममनोहर जी, बड़ा मन्दिर, भुलेश्वर, बम्बई

श्री हंसराज गोकुलदास वेद, बालकृष्ण निकेतन, राजारामपुरी, फ़र्स्ट लेन, कोल्हापुर (महाराष्ट्र) १०१)

श्री नटवरलाल छबीलदास शाह, द्वारा श्री रमेशचन्द्र नटवरलाल, पोस्ट बॉक्स नं० १२७, स्टेशन रोड, साहूपुरी, कोल्हापुर (महाराष्ट्र) १०१)

श्री छगनलाल नरसीदास पटेल, सी० एन्० पटेल ऐण्ड कम्पनी, १८३४ सी,, भाऊसिंहजी रोड, म्युनिसिपल कार्पोरेशन के सामने, कोल्हापुर (महाराष्ट्र) १०१)

श्री लक्ष्मीदास मोरारजी, मण्डई, म्युनिसिपल कार्पोरेशन के सामने, कोल्हापुर, (महाराष्ट्र) १०१)

श्री नटवरलाल करसनदास दावड़ा, द्वारा करसनदास पुरुषोत्तम ऐण्ड कम्पनी, स्टेशन रोड, साहूपुरी, कोल्हापुर (महाराष्ट्र) १०१)

श्री रतिलाल करसनजी शाह, जयसिंहपुर, जिला कोल्हापुर (महाराष्ट्र) १०१)

श्री व्रजदास वल्लभदास दावड़ा, द्वारा गिरिधर उद्योग, साँगली बैंक के समीप, बँगलो रोड, इछलकरनजी, जिला कोल्हापुर, (महाराष्ट्र) १०१)

श्री सेठ श्री वृन्दावन भाई, गौतम ब्रदर्स, १५७ नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता–१ १०१)

श्रीमती चाँदबाई तापरिया, तापरिया हाउस, २४/४ अलीपुर रोड, अलीपुर, कलकत्ता–२७ १०१)

कुमारी मीनल मंगलदास वोरा, प्राध्यापिका, १२ विजय विला, ७६ वर्ली, सी-फ़ेस, बम्बई–२५ १०१)

साधारण सदस्य

गोस्वामिवर्य श्री प्रीतमलाल जी १०/४० कृष्णनगर, कानपुर–७ (पिन कोड २०८००७)

श्री ठाकोरलाल अमृतलाल शास्त्री, राधाकृष्ण पोल, राजमहल रोड, बड़ौदा-१

श्री सेठ श्री बाबूलाल गुप्त २३१ एम्० डी० रोड, कलकत्ता–७

श्रीमती भानु बहन, ३४ गणेशचन्द्र एवेन्यू, पाँचवीं मञ्जिल, २१ नम्बर कलकत्ता–१३

श्री हरिलाल गिरिधरलाल दोशी, विनोद वाच कम्पनी, २३६ ए, कालवा देवी रोड, बम्बई–२

श्री एस्० डी० हजारे, माली बिल्डिंग, दीनदयाल रोड, दोम्बीवली (पश्चिम), जिला थाना, महाराष्ट्र

श्री मोहनलाल जी डागा, सत्तीबाजार, रायपुर, मध्यप्रदेश

श्री वल्लभजी थानवी, द्वारा श्री मोहनलालजी डागा, सत्ती बाजार, रायपुर

श्रीबालकृष्णभट्टविरचित

प्रमेयरत्नार्णव

(हिन्दी अनुवाद सहित)

सम्पादक एवं अनुवादक **केदारनाथ मिश्र**

दर्शन उच्चानुशीलन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

पृष्ठ संख्या ४८ + २८० रैक्सीन की पूरी जिल्द, मूल्य १०)

प्रकाशक : **आनन्द प्रकाशन** बी २/१७८ ए, भदैनी,

वाराणसी–१ (पिन कोड २२१००१)

श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत वेदान्त तथा पुष्टिमार्ग के दार्शनिक एवं धार्मिक पक्षों का व्यवस्थित, सुसम्बद्ध, प्रामाणिक और सुस्पष्ट विवरण देने वाली इस प्राचीन कृति का शोधपूर्ण विस्तृत उपोद्घात, हिन्दी अनुवाद, महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों एवं परिशिष्टों के साथ प्रकाशित यह अभिनव संस्करण दर्शन, धर्म एवं हिन्दी साहित्य में रुचि रखने वालों के लिए अत्युपयोगी है। इस प्रकाशन के सम्बन्ध में देश के हिन्दी साहित्य, दर्शन, धर्म एवं संस्कृत के कुछ लब्धप्रतिष्ठ मूर्धन्य विद्वानों की सम्मतियों के कुछ अंश नीचे उद्धृत हैं।

"श्रीवल्लभाचार्य के धर्म और दर्शन का ऐसा एक भी महत्त्वपूर्ण पक्ष नहीं है जिसका इस छोटी-सी कृति में विशद निरूपण न किया गया हो। ग्रन्थकार का वास्तविक वैशिष्ट्य सारभूत सिद्धान्तों को सुस्पष्ट रूप से हृदयङ्गम कर लेने तथा उन्हें उतनी ही स्पष्टता से उपस्थापित कर देने में है।....प्रस्तुत संस्करण....में पहली बार उद्धरणों के मूल निर्दिष्ट कर दिये गये हैं एवं अपूर्ण उद्धरणों को पूरा कर दिया गया है। इन सारे उद्धरणों का मूलस्थल खोजने में कितना समय और परिश्रम लगा होगा यह सोचने पर किसी भी व्यक्ति को सम्पादक के प्रति कृतज्ञता की अनुभूति हुए विना न रहेगी।....इस संस्करण की अनुशंसा करने में मुझे हार्दिक आनन्द का अनुभव होता है।"

श्री नागरदास का० बाँभणिया

सेठ हरजीवनदास पुरुषोत्तमदास प्रोफ़ेसर ऑफ़ शुद्धाद्वैत फ़िलासफ़ी

"आचार्य बालकृष्णभट्ट का प्रमेयरत्नार्णव यद्यपि आकार में छोटा है पर महाप्रभु वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों का जैसा विशद विवेचन इस ग्रन्थ में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। मुझे यह देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के फ़िलासफ़ीविभाग के प्राध्यापक पं० केदारनाथमिश्र ने इस बहुमूल्य ग्रन्थ का

नये सिरे से सम्पादन किया है और बहुत ललित भाषा में इसका हिन्दी अनुवाद भी किया है। उन्होंने ग्रन्थ में आये उद्धरणों को बड़े परिश्रम से मूलग्रन्थों से खोजा है और यथास्थान उनका सन्दर्भ भी बताया है।....महाप्रभु के सिद्धान्तों का ठीक-ठीक परिचय दे सकने वाला साहित्य हिन्दी में बहुत कम आया है। पं० केदारनाथ जी मिश्र ने इस कमी को बहुत योग्यता के साथ पूरा किया है। इसके पहले भी उन्होंने महाप्रभु के तत्त्वार्थदीपनिबन्ध की मनोरम व्याख्या प्रकाशित करायी है। उनके ये महत्त्वपूर्ण प्रयास भारतीयदर्शन के प्रेमियों तथा हिन्दी साहित्य के अनुसन्धाताओं के लिए बहुत उपयोगी हैं।''

पद्मभूषण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

''श्रीबालकृष्णभट्टरचित प्रमेयरत्नार्णव में पुष्टिमार्ग एवं शुद्धाद्वैत का प्रामाणिक प्रतिपादन और विशद व्याख्या बड़ी सुलझी हुई शैली में की गयी है। श्री केदारनाथ मिश्र ने बड़े परिश्रम से उक्त ग्रन्थ का सम्पादन एवं अनुवाद किया है। अनुवाद विश्वसनीय और हृदयग्राही है।''

प्रोफ़ेसर नन्दकिशोर देवराज

डी० फ़िल्०, डी० लिट्०

भूतपूर्व अध्यक्ष—भारतीय दर्शन एवं धर्म तथा दर्शन विभाग,

भूतपूर्व निदेशक—दर्शन उच्चानुशीलन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

''श्रीबालकृष्ण भट्ट के पुष्टिमार्ग के दार्शनिक एवं धार्मिक पक्षों का व्यवस्थित रूप में विवरण देने वाले संस्कृत ग्रन्थ '**प्रमेयरत्नार्णव**' का हिन्दी में प्रामाणिक और स्पष्ट अनुवाद प्रस्तुत कर श्री केदारनाथ मिश्र ने हिन्दी जगत् की अनुकरणीय सेवा की है। निस्सन्देह उनकी यह कृति अष्टछाप, विशेषकर सूरदास में अभिरुचि रखने वाले विद्यार्थियों, अध्यापकों एवं प्रबुद्ध पाठकों के लिए अत्युपयोगी सिद्ध होगी। इस कृति के लिए मैं श्री मिश्रजी को हार्दिक बधाई देता हूँ।''

प्रोफ़ेसर विजयपाल सिंह

एम्० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच्० डी०, डी० लिट्०

अध्यक्ष—हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय